ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
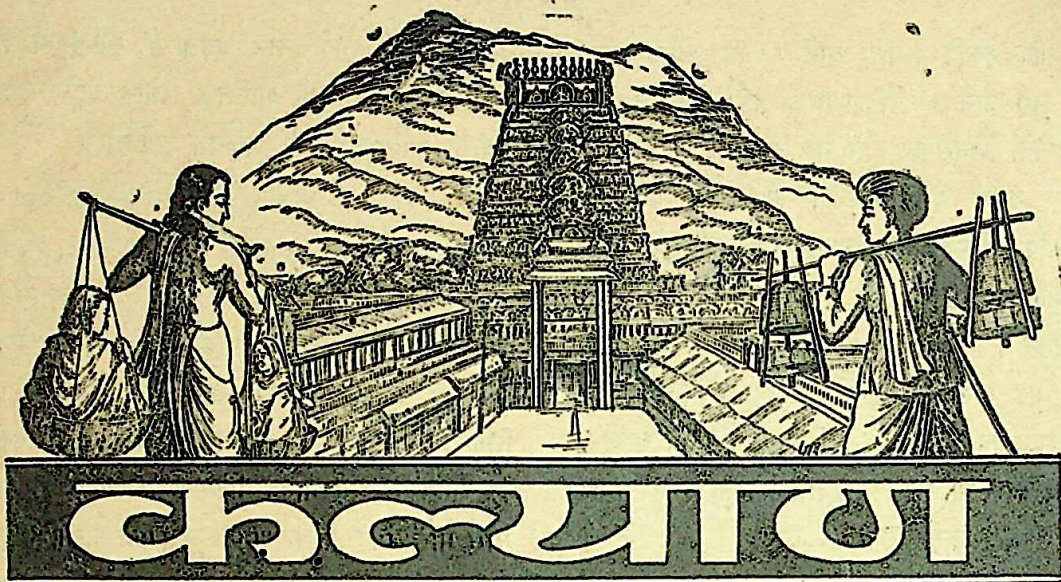
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

( श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३ )

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१४, जुलाई १९५७ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ३६८

## बाल-माधुरी

आज तो निहार रामचंद्र कौ मुखारविंद,
चंदहू ते अधिक छवि लागत सुहाई री ।
केसर कौ तिलक भाल, गरे सोहै मुक्तमाल,
घूँघरवारी अलकन पर कुण्डल छवि छाई री ॥
अनियारे अरुन नैन, वोलत अति ललित बैन,
मधुर मुसकान पर मदनहू लजाई री ।
ऐसे आनंदकंद निरखत मिट जात द्वंद
छवि पर वनमाल 'कान्हर' गई हौं विकाई री ॥

# कल्याण

याद रक्खो—यदि तुम्हें पूर्वकी ओर जाना है और तुम जाने लगोगे पश्चिमकी ओर—तो तुम अपने पहुँचनेके स्थानसे दूर होते चले जाओगे; इसी प्रकार तुम्हें यदि करनी है भगवत्प्राप्ति और तुम करते रहोगे विषयोंका चिन्तन तो भगवत्प्राप्ति तुमसे दूर होती चली जायगी एवं इस दिशामें तुम्हारे जीवनमें सफलता होगी ही नहीं।

याद रक्खो—मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बनता चला जाता है। विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयोंमें डूबकर वह विषयरूप बन जाता है और भगवान्‌का चिन्तन करते-करते भगवद्रूप।

याद रक्खो—तुम जिस प्रकारका चिन्तन करोगे, उसी प्रकारका वातावरण तुम्हारे लिये बनता चला जायगा। भगवान्‌में चित्त लगाते रहोगे तो तुम्हें वैसा ही साहित्य, वैसी ही साधन-सामग्री, वैसा ही सङ्ग क्रमशः मिलता जायगा। विषय और विषयी जगत्‌से अपने-आप ही सम्बन्ध कटता चला जायगा। भगवान्‌की ही चर्चा करने लगोगे तो विषयी पुरुष—जिनको विषय-चर्चा ही प्रिय लगती है—तुम्हारे पास आना-बैठना बंद कर देंगे और भगवच्चर्चा करनेवाले लोग तुम्हारे पास आने-बैठने लगेंगे।

याद रक्खो—सारे अनर्थों, पापों तथा पतनका मूल है—विषयचिन्तन। विषय-चिन्तनसे विषयासक्ति—विषयकामना बढ़कर मनुष्यके विवेकको खो देती है और बुद्धिभ्रष्ट होकर मनुष्य चाहे जैसे कुकर्म कर बैठता है, जिनके बुरे फलसे छुटकारा मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

याद रक्खो—भगवान्‌की लीला, भगवान्‌के गुणानुवाद, भगवान्‌के तत्त्व और स्वरूपका चिन्तन, भगवत्-सम्बन्धी कथोपकथन आदिसे भगवच्चिन्तन बढ़ता है और ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों चित्तमें सात्त्विक आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है एवं तुम भगवान्‌के समीप पहुँचते जाते हो।

याद रक्खो—संसारके चिन्तनसे चित्त-प्रदेशमें व्यर्थ-का कूड़ा भरता चला जाता है, राग-द्वेष उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं, अशान्ति होती है, पापमें प्रवृत्ति होती है, चित्तका स्थिर, शान्त तथा सुखी रहना बंद हो जाता है, दिन-रात जलन बनी रहती है, मरते समयतक चित्त चिन्ताओंसे भरा रहता है, भगवान्‌का मङ्गलमय स्मरण छूट जाता है और मानव-जीवन विफल ही नहीं, पापका भारी भार संग्रह करके अनन्त दुःखमय जन्मोंका कारण बन जाता है। इसलिये जैसे भी हो, संसारचिन्तनके बदलेमें भगवच्चिन्तनका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—कई बार भगवच्चिन्तनके नामपर भी विषय-चिन्तन होता रहता है, जो विषयासक्ति और विषय-कामनाको बढ़ाता है। इससे खूब सावधान रहो तथा भगवान्‌का वैसा ही विशुद्ध चिन्तन करो, जिससे विषय-चिन्तनको स्थान ही न मिले।

याद रक्खो—भगवान्‌के शृङ्गार और उनकी मधुर शृङ्गारलीलाका चिन्तन जहाँ शुकदेव मुनि, श्रीचैतन्य महाप्रभु, सनातन-रूप गोस्वामी, सूरदास, नन्ददास आदि विरक्तोंके लिये भगवान्‌के निर्मल दिव्य प्रेम-रसकी प्राप्तिका पवित्रतम अमोघ साधन है और वैसे विषयविरक्त भगवत्प्रेमियोंका प्रियतम जीवन है, वहाँ विषयासक्त, इन्द्रियाराम लोगोंके लिये वही भोग-वासना उत्पन्न करने, बढ़ाने तथा उनके घोर पतनका साधन हो सकता है। इसलिये सावधान रहो। चित्तकी ओर अन्तर्दृष्टि करके सदा देखते रहो, उसमें कहीं तनिक भी भोग-वासना तो नहीं आ गयी है।

'शिव'

# संसारमें सार क्या है ?

( लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती )

शास्त्रमें एक वचन मिलता है—

यत् सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रात् ॥

भाव यह है कि संसारमें जो सार वस्तु हो, मनुष्य उसीका सेवन करे, अर्थात् पुरुषार्थद्वारा सार वस्तुको प्राप्त करे और असार वस्तुओंमें न फँसे। दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे दूध और पानी मिलाकर हंसको दो तो वह साररूप दूधको ग्रहण करेगा और असार वस्तु पानीको छोड़ देगा, उसी प्रकार मनुष्यको भी करना चाहिये।

अतएव यदि सारको ग्रहण करना है तो संसारमें सार वस्तु क्या है—यह जान लेना चाहिये। जिस मनुष्यमें विवेक-बुद्धि जाग्रत् नहीं हुई होती, वह तो विषयभोगके साधनोंको ही साररूप मानता है, इस कारण सारे जीवनको इन साधनोंके जुटानेमें ही लगा देता है। भोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, बल्कि उससे भोगतृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है; परिणाम यह होता है कि मनुष्य मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक विषय-चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसके फलस्वरूप आसुर योनियोंको ही प्राप्त होता है। यह बात हुई उन मनुष्योंकी—

जो 'कामोपभोगपरम' हैं अर्थात् काम्य वस्तुओंको प्राप्त करके उनका भोग भोगनेमें ही जीवनको सार्थक समझते हैं। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रोंमें पामर और विषयीकी संज्ञा दी गयी है।

परंतु जो मुमुक्षु पुरुष हैं, वे इस बातको जानते हैं कि भोग-पदार्थ दुःखयोनि और आगमापायी हैं, अतः उनसे कोई सच्चा और स्थायी सुख नहीं मिलता। इससे वे लोग विषयोंको विषवत् त्याग देते हैं और संसारमें साररूप क्या है—इसका विचार करते हैं। सारे संसारका सार खोजना तो एक बहुत व्यापक प्रश्न है; इसलिये पहले छोटे-छोटे परिचित उदाहरणोंको देखें, जिससे मूल प्रश्नका समझना सहज हो जाय।

एक आदमीके पास एक सोनेकी अँगूठी है। उस अँगूठीको निहाईपर रखकर उसपर हथौड़ा मारा जाय तो क्या होगा? अँगूठीका आकार नष्ट हो जायगा और हथौड़ेसे पीटा सोनेका टुकड़ा दीख पड़ेगा। वह सोना एक समय अँगूठीके रूपमें था, ऐसी केवल स्मृतिमात्र रह जायगी। अब उसको एक बर्तनमें रखकर भट्ठीपर चढ़ायेंगे तो वह अँगूठी गलकर एक छोटी सोनेकी गुटिका बन जायगी और तब यह स्मृति भी शेष नहीं रहेगी कि वह गुटिका पहले अँगूठीके रूपमें थी। इस सारे प्रयोगका सार इतना ही है कि अँगूठी जब उत्पन्न नहीं हुई थी, उस समय भी सोना तो था ही। पीछे सुनारने उस सोनेसे एक आकृति तैयार की और उस आकृतिका नाम 'अँगूठी' रखा। नाम तो आकृति बननेके बाद ही पड़ा। पीछे जब उस आकृतिको नष्ट कर दिया गया, तब उसका नाम भी नष्ट हो गया और सोना अवशेष रह गया। नरसी मेहताने अपने एक भजनमें यही बात इस प्रकार कही है—

'घाट घड़्या पछी नामरूप झूजवाँ, अन्ते तो हेम नुं हेम होय।' अर्थात् आकृति गढ़नेके बाद नाम-रूपका अस्तित्व होता है, फिर अन्तमें सोने-का-सोना ही रह जाता है। यही बात दूसरी तरह कहें तो कह सकते हैं कि पहले सोना था, पीछे उसने एक रूप धारण किया और उस रूपका नाम अँगूठी रखा गया। फिर सोनेने अपनी उस आकृतिको अपनेमें समेट लिया और इस प्रकार नाम-रूप दोनोंका नाश हो गया और सोना फिर अपने मूल स्वरूपमें आ गया।

अब अँगूठीके विषयपर फिर आइये। अँगूठीमेंसे सोना निकाल लें तो क्या बच रहेगा? यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सोनेने ही नाम-रूप धारण किया

था, इसलिये अँगूठीमेंसे सोना निकाल लेनेपर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता; क्योंकि नाम और रूप दोनों ही सोनेमें कल्पित थे ।

परंतु अँगूठीमेंसे सोना प्रत्यक्षरूपमें निकाला नहीं जा सकता, अतएव इसको समझनेके लिये सूक्ष्म रीतिसे विचार करना पड़ता है । अतः इससे एक और स्थूल दृष्टान्त लीजिये ।

एक मिट्टीका घड़ा लीजिये । वह घड़ा और कोई वस्तु ही नहीं है, केवल मिट्टीके द्वारा धारण की गयी एक विशेष आकृति है । और उस आकृतिको मिट्टीकी दूसरी आकृतिसे पृथक् दिखलानेके लिये उसको 'घड़ा' नाममात्र दिया जाता है । यह घड़ा कच्चा है, अर्थात् इसकी आकृति अवाँमें पकायी नहीं गयी । अब पानीसे भरा एक बड़ा बर्तन लीजिये और इस घड़ेको उसमें डुबा दीजिये । एक आध घंटेके बाद देखिये तो वह घड़ा दिखायी नहीं पड़ेगा । घड़ेकी मिट्टी पानीमें गल गयी, इससे घड़ेकी आकृति नष्ट हो गयी । और जब आकृति नष्ट हो गयी, तब 'घड़ा' नाम किसको दिया जाय ? इसलिये घड़ेकी मिट्टी निकाल लीजिये तो नाम-रूप दोनोंका नाश हो जाता है और मिट्टी अवशेष रह जाती है और घड़ेकी आकृति बननेसे पूर्व मिट्टी तो थी ही । मध्यमें मिट्टीने एक आकार धारण किया, जिसको हमने 'घड़ा' नाम दिया । फिर पीछे उस घड़ेको पानीमें डालनेपर मिट्टी गल गयी और नाम-रूप नष्ट हो गये तथा मिट्टी बर्तनकी पेंदीमें बैठ गयी ।

अब यहाँ भी हम घड़ेमेंसे मिट्टीको प्रत्यक्ष रूपमें नहीं ले सकते, इसलिये मिट्टी पानीमें गल गयी—यह बात बुद्धिके सहारे समझनी पड़ती है । अतः अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिये, जिसमें बुद्धिकी कुछ भी सहायता न लेनी पड़े और सारी बात प्रत्यक्ष समझमें आ जाय ।

एक वस्त्रका टुकड़ा लीजिये । अब यह पता लगाइये कि वह किस प्रकार बना है । रूईसे सूत बना और सूतको बुननेसे वस्त्र बना । अब इस वस्त्रमेंसे एक-एक करके सूतके तारोंको निकालते जाइये । सब तारोंको निकाल देंगे, तब क्या बाकी रहेगा ? कुछ भी बाकी न रहेगा । रहेंगे तो वे सूतके तार ही रहेंगे और वस्त्रका कोई नाम-निशान भी न रहेगा । सूतके तारोंने एक साथ मिलकर जो वस्त्रका आकार धारण किया था, वह आकार तारोंके अलग-अलग हो जानेसे नष्ट हो गया और आकारके नष्ट होते ही 'वस्त्र' नामका भी नाश हो गया । प्रकारान्तरसे कह सकते हैं कि वस्त्रके उत्पन्न होनेके पहले सूत था । उस सूतके तारोंको व्यवस्थित रीतिसे मिलानेसे वस्त्र बना और फिर उन तारोंको अलग-अलग कर देनेसे वस्त्रका नाश हो गया ।

अब तीनों दृष्टान्तोंको साथ लेकर देखिये । अँगूठीमें मानो सोना साररूप था; क्योंकि अँगूठीका आकार और 'अँगूठी' नाम तो नाशवान् ही हैं, इस कारण वहाँ साररूप कुछ है तो वह सोना ही है । इसी प्रकार घड़ेके दृष्टान्तमें भी मिट्टी साररूप है; क्योंकि आकृति और उसका नाम तो नाशको प्राप्त होता है, पर मिट्टी ज्यों-की-त्यों रहती है । वस्त्रके दृष्टान्तमें भी नाम और रूप नाशको प्राप्त होते हैं, परंतु सूत तो ज्यों-का-त्यों रहता है । अतएव अँगूठीका आधार सोना है, घड़ेका आधार मिट्टी है और वस्त्रका आधार सूत है । अथवा अँगूठी सोनेके सिवा और कुछ नहीं है, घड़ा मिट्टीके सिवा और कुछ नहीं है और वस्त्र सूतके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि उनकी उत्पत्ति सोने, मिट्टी और सूतसे ही क्रमशः होती है । जिससे जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसको उसका उपादान कारण कहते हैं; अतएव अँगूठीका उपादान कारण सोना है, घड़ेका मिट्टी है और वस्त्रका सूत है; और इस कारण उनमें साररूपमें सोना, मिट्टी और सूत हैं । नाम और रूप कल्पित होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं । यहाँ एक ही बातको अनेक प्रकारसे बहुत बार कहा गया है, यह बोधकी दृढ़ताके लिये आवश्यक समझकर कहा गया है । इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं माना जाता । इसके समर्थनमें वेदान्तसूत्र कहता है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।'

अर्थात् उपदेशको हृदयमें दृढ़ होनेके लिये एक ही बात वारंबार समझायी जाती है। वसिष्ठ ऋषिने भी श्रीभगवान् रघुनाथजीसे कहा है—

भूयो निपुणबोधाय शृणु किञ्चिद् रघूद्वह।
पुनः पुनर्यत् कथितं तदन्तेऽप्यवतिष्ठते॥

'बोधकी विशेष दृढ़ताके लिये एक बार फिर कहता हूँ, सावधान होकर सुनो; क्योंकि एक ही बात अनेक प्रकारोंसे कही जाती है तो उससे मन्द बुद्धिवाले-को भी बोध हो जाता है।'

हमने जिस बातको इतना विस्तारपूर्वक कहा है, उसीको श्रीगौडपादाचार्यने एक ही श्लोकमें समझाया है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

भाव यह है कि नाम और रूप जैसे वस्तुकी उत्पत्तिके पूर्व नहीं होते, वैसे ही वस्तुका नाश होनेपर भी नहीं रहते। वे मध्यकालमें दीखते हैं, तो भी उनको मिथ्या ही जानो। 'अँगूठी नाम और उसका रूप सुनारके द्वारा गढ़े जानेके पूर्व नहीं थे, बीचमें दिखायी दिये हैं। और अँगूठीको गला देनेके बाद वे अदृश्य हो गये। इसलिये बीचमें जो अँगूठी नाम और उसकी आकृति दीख पड़ते हैं, उनको मिथ्या समझना चाहिये; क्योंकि उनमें स्वर्ण ही सत्य है। और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तु मध्यमें सत्य-सी दीख पड़ती हैं, क्योंकि हम उसका उपयोग करते हैं; परंतु तात्त्विक दृष्टिसे वह सत्य नहीं बल्कि कल्पित होनेके कारण मिथ्या है, अर्थात् केवल व्यवहार-कालमें प्रतीत होती है, इसलिये उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। दृष्टान्त देकर और भी समझाते हुए वे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

अर्थात् स्वप्नके पदार्थ, इन्द्रजालका खेल, बादलोंमें दीखनेवाला गन्धर्व नगर तथा दूसरी अनेकों आकृतियाँ-जैसे दीखती हैं, तथापि मिथ्या ही होती हैं, केवल देखने मात्रको होती हैं; उसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक विश्व-प्रपञ्च जो दीख पड़ता है मिथ्या ही है—ऐसा तत्त्वज्ञानी समझते हैं।

इसी प्रकार सृष्टिके उत्पन्न होनेके पहले एक परमात्मा ही था। उसको एकसे अनेक रूप होकर रमण करनेकी इच्छा हुई और इसलिये उसने अपने ही भीतरसे इस संसारकी रचना की। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—अर्थात् अपनेमेंसे जगत्को रचकर उसमें स्वयं जीवरूपसे प्रवेश किया। अतएव यह निश्चित हो गया कि परमात्मा इस सृष्टिका उपादान कारण है; क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि जिसमेंसे जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह उसका उपादान कारण होती है।

अब यहाँ यह विचारनेकी बात है कि अँगूठी बनानेमें सोना और सुनार—इन दोनोंकी जरूरत पड़ती है, घड़ा बनानेके लिये मिट्टी और कुम्भकार दोनों चाहिये तथा वस्त्रके लिये सूत और जुलाहा दोनों चाहिये। अतः जिससे जो वस्तु बनती है, वह उसका उपादान-कारण, तथा जो बनाता है वह निमित्त-कारण कहलाता है। यहाँ इस सृष्टिकी रचनामें यदि ईश्वरको उपादान-कारण मानें तो फिर निमित्त-कारण क्या है ? उसका भी पता लगाना चाहिये। इसका स्पष्ट करण यह है कि ईश्वर स्वयं ही उपादान-कारण और निमित्त-कारण दोनों है। जैसे मकड़ी अपने शरीरमेंसे लार निकालकर जाला बनाती है, अतएव उसका निमित्त और उपादान दोनों कारण मकड़ी ही होती है, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। अर्थात् उपादान भी स्वयं ही है और उपादानमेंसे सृष्टि रचनेवाला भी वह स्वयं ही है।

हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि किसी भी वस्तुमें साररूप तो उसका उपादान-कारण ही होता है, उपादान-कारणसे कार्यकी भिन्न सत्ता नहीं होती। जैसे अँगूठीमें सोना, घड़ेमें मिट्टी तथा वस्त्रमें सूत ही सार है, वैसे ही इस संसारमें साररूप इसका उपादानकारण ही होना चाहिये और वह है ईश्वर या परमात्मा। जैसे वस्तुमेंसे उपादान निकाल लेनेपर कुछ भी शेष नहीं रहता, उसी प्रकार संसारमेंसे यदि ईश्वरको हटा दिया जाय तो संसार नहीं रह सकता।

अब ईश्वर ही जगत्का उपादान-कारण है, इसका प्रमाण देखिये । गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।**

अर्थात् इस समस्त जगत्में मैं अव्यक्तरूपसे व्याप्त हूँ । जैसे अँगूठीमें सोना, अथवा घड़ेमें मिट्टी व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही ईश्वर जगत्में व्याप्त रहता है । यहाँ कदाचित् अर्जुन प्रश्न करें कि 'महाराज ! आप तो रथमें यहाँ मेरे सामने बैठे हैं और फिर कहते हैं कि मैं सारे जगत्में व्याप्त हो रहा हूँ;—यह कैसे हो सकता है ?' इसीलिये भगवान् पहलेसे ही कह रहे हैं—'मया अव्यक्तमूर्तिना' । मैं इस अवतार-स्वरूपसे तो तुम्हारा रथ हाँकता हूँ—यह ठीक है; परंतु मेरा जो मूल सर्वव्यापक स्वरूप है, जो इन्द्रियोंसे अगोचर है, उस स्वरूपसे मैं सर्व जगत्में व्याप्त हो रहा हूँ ।

फिर दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

**मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।**

अर्थात् हे अर्जुन ! जैसे अँगूठी सोनेसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार मुझसे भिन्न इस संसारमें कोई पदार्थ नहीं है । अर्थात् मैं ही इस जगत्रूपमें दृग्गोचर हो रहा हूँ । इस जगत्का उपादान-कारण मैं ही हूँ । इसलिये मेरे सिवा जगत् दूसरा कुछ नहीं है ।

ब्राह्मण लोग प्रतिदिन शंकरकी पूजा करके आरती उतारते समय गाते हैं—

**कर्पूरगौरं करुणावतारं**
**संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।**
**सदा वसन्तं हृदयारविन्दे**
**भवं भवानीसहितं नमामि ॥**

यहाँ शंकरका एक विशेषण 'संसारसार' भी है । अर्थात् इस संसारमें कुछ साररूप है तो वह एक ईश्वर ही है; क्योंकि उसके सिवा जगत् कोई वस्तु नहीं । अब इस साररूप वस्तुको खोजें कहाँ ? ऐसा किसी भक्तके मनमें प्रश्न हो तो कहते हैं—'सदा वसन्तं हृदयारविन्दे ।' अर्थात् प्राणी मात्रके हृदयकमलमें उनका नित्य निवास है । इसलिये ईश्वरको खोजनेके लिये कहीं बाहर दौड़नेकी जरूरत नहीं । हृदयको शुद्ध करनेसे वहीं उनका दर्शन हो जायगा ।

श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

**यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।**
**तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ॥**

जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए रूपके भीतर और बाहर चारों ओर दर्पणका काच ही रहता है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं होता, इसी प्रकार इस शरीरमें भी, इस जगत्में भी अंदर और बाहर, चारों ओर एकमात्र परमेश्वर ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है । इस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक है, अतएव वह कहीं नहीं है—यह कहना ही नहीं बनता । स्वर्ण जैसे अँगूठीमें है, वैसे ही ईश्वर जगत्में है । इस कारण यदि स्वर्णके बिना अँगूठीका अस्तित्व रह सकता हो तो ईश्वरके बिना जगत्का भी अस्तित्व रह सकता है ।

ऊपर जो बात श्रीअष्टावक्र मुनिने सुन्दर दृष्टान्तके द्वारा समझायी है, उसी प्रसङ्गको श्रीवसिष्ठ ऋषिने एक नाटकके रूपकसे श्रीरामचन्द्रजीको समझाया है; उसका उल्लेख करके निबन्ध समाप्त करूँगा ।

**अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे**
**संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।**
**साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽयं**
**एकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः ॥**

अनेकों विकारोंसे भरे हुए, नियति-रूपी नटीके विलासोंसे युक्त इस संसार नामक अनादि महानाटकमें सर्वदा प्रकाशमान यह प्रत्यगात्मारूप एक राजा ही देखनेवाला है । वस्तुतः देखनेमें यह राजा नटीसे तथा नाटकसे भिन्न नहीं है । द्रष्टा पुरुष दर्शन और दृश्यसे अभिन्न ही है ।

इसलिये इस संसारमें कोई साररूप है तो वह एक परमेश्वर है, दूसरा कुछ नहीं । जो दिखलायी देता है, वह तो केवल दिखावामात्र, दृश्यमात्र है ।

# परमार्थ-पत्रावली

( श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र )

( १ )

सादर हरिस्मरण । आपका कार्ड मिला । समाचार ज्ञात हुए । उत्तर इस प्रकार है—

( १ ) आपने लिखा, 'मैंने छः वर्षसे आध्यात्मिक क्रियाका साधन आरम्भ किया है, पर उसमें प्रगति नहीं होती ।' इससे ज्ञात होता है कि आप जो साधन कर रहे हैं, वह ठीक आपकी समझमें नहीं आया । साधनमें निम्नलिखित बातें होनेपर उसमें मन लग सकता है—

( क ) साधन ऐसा होना चाहिये, जिसमें साधककी रुचि हो ।

( ख ) जो साधन किया जाय, वह साधककी योग्यता और प्रकृतिके अनुरूप हो अर्थात् जिसको साधक अनायास सहज स्वभावसे ही कर सकता हो ।

( ग ) जिसमें साधकका श्रद्धा-विश्वास हो कि यह साधन अवश्य ही मुझे मेरे लक्ष्यतक पहुँचा देगा ।

इस प्रकार साधनका चुनाव हो जाय और साधक उसे समझ ले तो फिर साधन साधकका स्वभाव बन जाता है । उसके करनेमें न तो आलस्य और प्रमाद बाधक हो सकता है और न मनकी चञ्चलता ही ।

( २ ) ईश्वर सबका शासक, स्वामी, रक्षक और हितकारी है; वह सर्वत्र है । जो अन्य किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, एकमात्र उसीसे मिलनेके लिये व्याकुल हो जाता है, उसे वह तत्काल मिल जाता है । उससे साधक जिस प्रकार और जिस रूपमें मिलना चाहता है, वह उसी रूपमें साधकको मिल जाता है । मिलनेके बाद यह शङ्का अपने-आप मिट जाती है कि वह मिलेगा या नहीं । मिलनेके बाद जो स्थिति होती है, उसका वर्णन गीता अध्याय १२, श्लोक १३ से १९ तक देख लीजिये । वहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण लिखे हैं ।

( ३ ) यह संसार अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील और नाशवान् है—जिस रूपमें दिखायी देता है, उस रूपमें नहीं रहता । जो-जो बननेवाली चीजें हैं, वे सभी अनित्य होती हैं । बननेवाली वस्तुका बिगड़ना अनिवार्य है, यह सबके अनुभवमें आता है । यह जीवोंको अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये और मनुष्योंको कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिये बना है । पुण्य और पाप तो मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार स्वयं करता है । यदि संसारमें पाप न हो तो पुण्य किसे कहते हैं—यह पता ही न चले; यदि दुःख न हो तो सुखकी क्या पहचान ?

सृष्टि बननेके पूर्व आप, हम और सभी प्राणी अव्यक्तरूपमें थे एवं भगवान्‌में ही उनकी प्रकृतिके आश्रित थे । बादमें अपने-अपने पूर्वकर्मानुसार यथासमय प्रकट होते रहे ।

( ४ ) ईश्वरकी इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह समझ जिनकी है, वे तो कुछ नहीं करते और उनके द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें कोई पाप नहीं होता । पर जो मनुष्य सुखभोगके लालचसे एवं दुःखके भयसे मनमाना कर्म करना चाहते हैं, अपनेको उस कर्मका कर्ता मानते हैं, भगवान्‌के विधानको न मानकर उसका उल्लङ्घन करते हैं, वे ही दोषके भागी होते हैं । कर्म करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है और उसका विधान भी बता दिया है, उसको हरेक मनुष्य समझता भी है, फिर भी उसका उल्लङ्घन करता है, इसलिये ही वह दोषी होता है । जो इस रहस्यको समझ लेता

है कि उसकी कृपाके बिना कुछ नहीं होता, वह अपनी ओरसे कुछ नहीं करता, अतः उसका 'करना' 'होने'में बदल जाता है।

( ५ ) छः वैरियोंमें लोभ और क्रोध अधिक बलवान् हैं; इनका कारण काम है और उसका भी कारण मोह अर्थात् अज्ञान है।

इनसे निस्तार पानेके लिये साधकको चाहिये कि उसकी जो अज्ञानसे भोगोंमें सुख-बुद्धि हो रही है, उसे अपने विवेकद्वारा मिटाये, इनमें आसक्त न हो। भोगोंका लालच छोड़ देनेपर सभी वैरियोंसे निस्तार हो जायगा।

क्रोधको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, उसे भगवान्‌का विधान मान ले, अपने अधिकारका त्याग कर दे, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करे, उनके कर्तव्यकी ओर दृष्टिपात न करे और अपने कर्तव्यका पालन भगवान्‌की सेवाके नाते करता चला जाय।

( ६ ) बिना अनुमतिके किसीकी वस्तुको ले लेना अवश्य ही पापकर्म है। किस कर्ममें कितना पाप होता है, उसका कर्ताको क्या दण्ड मिलता है और कब मिलता है—यह फलदाताके हाथमें है। प्रभुके कानूनमें सब बातोंका विधान अवश्य है, पर उससे पूरा-पूरा नाप-तौल नहीं किया जा सकता। विस्तार देखना हो तो धर्मशास्त्र और पुराणोंमें देख सकते हैं। जहाँ नरक-यातनाका वर्णन आता है वहाँ लिखा है कि कर्मका फल इस जन्ममें भी मिलता है और आगामी जन्ममें भी।

( २ )

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

( १ ) भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद क्या करना चाहिये—यह प्रश्न भगवत्प्राप्त पुरुषके जीवनमें नहीं रहता; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। फिर भी उसके शरीर; इन्द्रिय, मन और बुद्धिद्वारा वही क्रिया अपने आप हुआ करती है, जो होनी चाहिये। उसकी प्रत्येक क्रियामें लोकहित भरा रहता है।

( २ ) भगवत्प्राप्तिके उपाय अनेक हैं। उनके मुख्यरूपमें तीन भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं—( १ ) ज्ञानयोग, ( २ ) भक्तियोग, ( ३ ) कर्मयोग। निष्काम-भाव, वैराग्य, समता, शम, दम, तितिक्षा, विवेक आदि दैवी सम्पदाकी सभी मार्गोंमें आवश्यकता है एवं दुर्गुण और दुराचाररूप आसुरी सम्पदाका त्याग भी सब प्रकार-के साधनोंमें होना चाहिये।

( ३ ) मनुष्योंकी आसक्ति भोगोंमें हो रही है, वे समझते हैं कि इन भोगोंके द्वारा हम मनकी बात पूरी करके सुखी हो जायँगे। इस मिथ्या धारणाके कारण और भगवत्प्राप्तिके महत्त्वमें विश्वास न होनेके कारण मनुष्यमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

( ४ ) जो मनुष्य विवेकके द्वारा जगत्‌की अनित्यता, क्षणभङ्गुरता, दुःखरूपता और सारहीनताको समझ गये हैं और इस परिवर्तनशील अशान्त अभावपूर्ण जीवनसे विरक्त होकर आत्मकल्याणकी आवश्यकता समझते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं।

( ५ ) भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर मनुष्य सब प्रकारके दुःख, भय और चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उसे सुख और अमृतमय नित्य जीवन प्राप्त होता है। उसके जीवनमें पराधीनता और किसी प्रकार-का अभाव नहीं रहता।

( ६ ) भगवान्‌की प्राप्तिके जो उपाय हैं, वे सब शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा समस्त व्यावहारिक कार्योंको सुन्दर और निर्दोष बना देनेवाले अतः उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।

मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह आदिके वशमें होकर भेद मानने लग जाता है ।

( ७ ) भगवान्‌की प्राप्ति मनुष्य जब चाहता है, तभी हो जाती है । इस कारण समयकी कोई अवधि नहीं है । केवल एक ही शर्त है कि भगवान्‌के सिवा अन्य किसी प्रकारकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये ।

( ८ ) नित्यमुक्त, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ, सर्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको पा लेना, उनका साक्षात् हो जाना ही भगवत्प्राप्ति है ।

( ९ ) 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे की गयी है । जिसमें उपर्युक्त गुण हों और अन्य भी समस्त सद्गुणोंका जो भंडार हो तथा जो सर्वव्यापी निर्गुण निराकार निर्विशेष भी हो, वह भगवान् है ।

( १० ) 'भगवान्', 'आप', 'यह' और 'मैं'—इनमें भेद है । यह भेद जीवोंकी दृष्टिसे है और अनादि है, ब्रह्मकी दृष्टिसे नहीं ।

( ३ )

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

( १ ) आपका 'मैं' दो भागोंमें विभक्त है । एक तो आपने जिसको अपना स्वरूप मान रखा है—यह मनुष्य-जीवन जो कि भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आपको मिला है और आपसे सर्वथा भिन्न है ।

दूसरा आपका वास्तविक स्वरूप है, जो उस प्रभुका ही अंश है और उसीकी जातिका है ।

आपका कर्तव्य क्या है, इसकी परिभाषा बहुत लंबी-चौड़ी है । उसका विस्तार पत्रमें नहीं लिखा जा सकता । मनुष्यका कर्तव्य बतानेके लिये असंख्य पुस्तकें और ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं । संक्षेपमें आपका कर्तव्य वही हो सकता है, जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका अहित न हो, जिसे करनेकी शक्ति, सामग्री और आवश्यक साधन आपको प्राप्त हो, एवं जो आपके वर्ण-आश्रम-धर्मके अनुसार आपके लिये विहित हो और जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो ।

( २ ) आप अपनेको जहाँ समझ रहे हैं, वहीं हैं । वास्तवमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों । शरीरमें आपका खास स्थान हृदय माना गया है । अपना स्वरूप आप स्वयं ही जान सकते हैं, उसका वर्णन नहीं होता । संसारमें विभिन्नता होना अनिवार्य है, स्वाभाविक है और अनादि है ।

( ३ ) आप यहाँ ( मनुष्य-शरीरमें ) अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगकर संसारसे उऋण होकर सदाके लिये इसके बन्धनसे छूटनेके लिये आये हैं । इसके पहले आप इस संसारमें ही थे, पर किस शरीरमें अपना अस्तित्व मानते थे, यह कोई नहीं बता सकता । योगविद्यासे आप स्वयं तो जान सकते हैं ।

( ४ ) जिस शरीरको छोड़कर आप इस मनुष्य-शरीरमें आये हैं, उसके संस्कार दब गये हैं, इस कारण उनकी स्मृति नहीं हो रही है । निमित्त पाकर हो सकती है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आप जब माताके गर्भमें थे, उस समयकी भी तो कोई बात याद नहीं है । करीब तीन सालतकके बालकपनमें—बहुत छोटी अवस्थामें जो काम किये थे, वे भी याद नहीं हैं । रोज जो स्वप्न आता है, वह याद नहीं रहता । इसके अतिरिक्त और भी बहुत बातें स्मरण नहीं रहतीं, यह सबका अनुभव है; फिर पूर्व जन्मकी बात याद न रहना कोई आश्चर्य नहीं है ।

( ५ ) आपका आवागमन इसलिये चालू है कि आप संसारके देनदार हैं । उससे लिया तो बहुत है, दिया कुछ नहीं । जो कुछ भी दिया है, वह भी बदलेमें अधिक लेनेके लिये ही दिया है । यह लेन-

देनेका खाता जबतक चुकती नहीं हो जाता, तबतक आवागमन कैसे छूटे ?

( ६ ) आपका चरम लक्ष्य क्या है, यह तो आप जानें; पर मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य संसारके बन्धनसे छूटकर अपने परम प्रियतम प्रभुको पा लेना ही है।

( ७ ) भगवान्की अहैतुकी कृपासे जो विवेक मिला है, उसके द्वारा संसारका स्वरूप तो प्रत्यक्ष दिखलायी दे रहा है कि इसमें कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, सभी प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं। अतः इनमें आसक्त होना, इनसे सम्बन्ध जोड़ना, इनकी इच्छा करना अपने विवेककी अवहेलना करना है। दूसरी बात रही भगवान्को जाननेकी, सो भगवान्को जीव कैसे जाने; क्योंकि उन्हें जाननेका साधन उसके पास है नहीं। अतः उनको जाननेका प्रयत्न न करके साधकको चाहिये कि उनको मान ले अर्थात् दृढ़ विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर ले कि भगवान् हैं और वे मेरे हैं। मैं और यह समस्त विश्व भी उन्हींका है। इस प्रकार मान लेनेपर वे स्वयं ही कृपा करके अपना साक्षात्कार साधकको करा देते हैं, प्रयत्नद्वारा वे नहीं जाने जाते; क्योंकि वे असीम और अनन्त हैं और प्रयत्न सीमित होता है।

( ८ ) ईश्वरमें आस्था ( निष्ठा ) विश्वास करनेपर ही हो सकती है। जिनकी उनपर आस्था है, उनकी और वेद-शास्त्रकी बात माननेपर, प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली उनकी महिमाको देखकर उसपर विचार करनेसे और अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बना लेनेसे ईश्वरमें आस्था सहज ही हो सकती है।

( ९ ) भगवान्का प्रभाव क्या है, इसका उत्तर इस छोटेसे पत्रमें कैसे लिखा जाय। उनके प्रभावका वर्णन करनेमें बहुत कुछ कहकर भी कोई पूर्णतया नहीं कह सका। अतः इतना मान लेना ही साधकके लिये अलं है कि इस जगत्में जो भी कोई व्यक्ति, पदार्थ आदि प्रभावशाली प्रतीत होते हैं, उन सबका प्रभाव उन्हींके प्रभावके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। ( गीता १० । ४१-४२ )

( १० ) भगवत्प्राप्त महापुरुषका जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है। इसके अतिरिक्त प्रभुकी कृपासे मनुष्यको जो विवेक मिला है, वह भी गुरुतत्त्व है। जो उसका आदर नहीं करता, वह गुरुका भी आदर नहीं कर सकता।

( ११ ) हरिकी कृपा तो अनन्त है, सदैव है और सबपर है। उसका अनुभव उस कृपाका आदर करनेपर—अपनेको उन कृपालुका कृतज्ञ बना लेनेपर और उनके आदेशानुसार जीवन बना लेनेपर सुगमतासे हो सकता है।

( १२ ) प्रभु अवश्य ही विभु हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रभु न हों। स्थानकी पवित्रता और अपवित्रता तो मनुष्योंकी दृष्टिमें है और उसका प्रभाव भी उन्हींपर पड़ता है। आप विचार करें—क्या आपके शरीरमें जहाँ मल-मूत्रका स्थान है, वहाँ आप नहीं हैं। इस दृष्टिसे आपकी यह शङ्का ही बेसमझीकी है। मल और मूत्र जब आपके शरीरसे अलग होते हैं, तभी उनको अपवित्र कहा जाता है। शरीरमें रहते हुए तो कोई भेद नहीं है।

( १३ ) वर्ण और आश्रमोंकी व्यवस्था मनुष्य-समाजको सुखी और स्वस्थ तथा सर्वहितकारी बनानेके लिये परम आवश्यक है और इहलोक-परलोकमें कल्याणकारी है। इस विषयमें आप अधिक क्या जानना चाहते हैं, विस्तारपूर्वक पूछनेपर उत्तर दिया जा सकता है।

( १४ ) धर्मका बन्धन सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाले कर्तव्यका ही दूसरा नाम धर्म है। वास्तवमें

धर्मका कोई बन्धन नहीं होता । मनुष्यके कर्तव्यका जो विधान है, उसीको धर्मके नामसे कहा जाता है। बिना विधानके कोई भी व्यवस्था नहीं रह सकती।

( १५ ) धर्मका आश्रय छोड़ देनेपर अधर्मका आश्रय मिलेगा, जिसका परिणाम दुःख, अशान्ति, पराधीनता, अव्यवस्था और पतन अनिवार्य है। दुःख किसीको अभीष्ट नहीं है, अतः धर्मका आश्रय परम आवश्यक है।

( १६ ) सनातन धर्म उस धर्मका नाम है, जो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला हो—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' ( वैशेषिक सूत्र ) तथा जो अनादि है, जो ईश्वरीय विधान है, जो सबके लिये मानने योग्य है। उसमें जो भेद दिखायी दे रहे हैं, इसका कारण कहीं तो स्वार्थी लोगोंद्वारा स्वार्थवश किया हुआ प्रचार है और कहीं वह अधिकारीके भेदसे आवश्यक है; क्योंकि सब मनुष्य एक ही मार्गसे नहीं चल सकते। प्रत्येककी बुद्धि, योग्यता, प्रकृति और समझमें भेद होता है। उसके अनुसार उनकी साधनामें भेद होना भी आवश्यक है। ऐसा मतभेद उस सनातन धर्मकी विशेषता और महानताका द्योतक है।

( १७ ) परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये आपको उसी मान्यताको साधनके रूपमें अपनाना चाहिये, जो रुचिकर हो, जिसपर आपका दृढ़ विश्वास हो, जिस मान्यताके अनुरूप आप सहजमें ही अपना जीवन बना सकें। जिस मान्यतामें न तो किसीके अहितकी भावना हो, न किसीके साथ द्वेष हो, न किसीकी निन्दा हो—ऐसी सर्वहितकारी मान्यतासे तथा ईश्वरकी भक्ति और ज्ञानसे परम शान्ति मिल सकती है।

अब मानससम्बन्धी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है—

( १ ) रामचरितमानस कैसा है, यह तो उसमें स्वयं तुलसीदासजीने लिखा ही है। दूसरा कोई उससे अधिक क्या बतायेगा। उसके प्रचारका हेतु तो यही मानना चाहिये कि मनुष्योंका भगवान्में प्रेम हो, विश्वास हो और वे उनके जीवनकी कथासे अपने-अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करें एवं ईश्वरकी भक्तिद्वारा उनको प्राप्त करें।

( २ ) श्रोता और वक्ताके लक्षण भी रामचरितमानसके आरम्भमें ही तुलसीदासजीने स्वयं बता दिये हैं। वक्ता सदाचारी, भगवान् रामका प्रेमी भक्त, लोभ और कामनासे रहित अवश्य होना चाहिये। श्रोताके हृदयमें भगवान् रामपर श्रद्धा और उनके चरित्र सुननेकी लालसा होनी चाहिये।

( ३ ) श्रीमानसके कथाप्रबन्धमें विचित्रता सबके लिये एक-सी नहीं है। जिसकी जैसी धारणा है, उसको वैसी ही विचित्रता प्रतीत होती है।

( ४ ) शंकर-धनुषको बड़े-बड़े योद्धा नहीं उठा सके, इसमें भगवान् रामद्वारा अभिमानियोंका अभिमान नाश करना और अपने भक्तोंकी श्रद्धाको बढ़ाना इत्यादि बहुत रहस्य हैं।

श्रीलक्ष्मणजीको राक्षसलोग ही नहीं, स्वयं रावण भी नहीं उठा सका—इसमें भी रावण आदिको जो अपने बलपराक्रमका अभिमान था, उसका नाश करना और लक्ष्मणजीकी महिमाका प्राकट्य आदि रहस्य भरा पड़ा है।

( ५ ) भगवान् राघवेन्द्रने मनुष्यका स्वाँग लिया था। अतः उस स्वाँगके अनुरूप लीला न की जाती तो सारा खेल ही बिगड़ जाता। अपने स्वाँगका पूर्णतया निर्वाह करना ही इन सब लीलाओंका उद्देश्य है। सुग्रीवके साथ श्रीरामने जो क्रोधकी लीला की, उसमें यदि सचमुच क्रोध होता तो क्या वे यह कहते कि—

'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

इसी प्रकार सीताहरणके समय उन्होंने जो शोक और

विषादकी लीला की, उसमें भी वास्तवमें दुःख नहीं था। शबरी और ऋषि-मुनियोंके मिलनमें एवं नारदके साथ हुई बातोंके प्रसङ्गमें इसका रहस्य खुल जाता है।

फुलवारीमें जो हर्षकी लीला है, उसका रहस्य भी लक्ष्मणके सामने भगवान्‌ने ही खोल दिया है।

( ६ ) हनुमान्‌जी ब्रह्मपाशमें स्वयं अपनी इच्छासे उसका मान रखने और रावणसे मिलनेके लिये बँधे थे।

इसी प्रकार भगवान् राम भी नागपाशका आदर करने और युद्धकी शोभा बढ़ानेके लिये स्वयं अपनी इच्छासे ही नागपाशमें बँधे थे।

( ७ ) मानसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। शब्दका अर्थ प्रसङ्गके अनुसार हुआ करता है, उसे समझना चाहिये। 'सत्' शब्द सत्ताका, श्रेष्ठताका और संख्याका भी वाचक होता है। सत्य बोलनेको भी 'सत्' कहते हैं। आपने जो उदाहरण दिखाये हैं, उनमें तीनों ही अर्थ क्रमसे आये हैं।

( ८ ) 'दूना' शब्द गणितकी दृष्टिसे किसी-न-किसी प्रकारके नाप-तौलकी ओर संकेत करता है। पर आपके पूछे हुए प्रसङ्गोंमें सुख और सुहागका तो नाप-तौल हो सकता है, क्योंकि वह वर्णन सीमितभाव-विषयक है। परंतु भगवान् रामका प्रेम असीम है, उसका नाप-तौल नहीं हो सकता; अतः श्रीहनुमान्‌जीके कथनमें जो 'दूना' शब्दका प्रयोग है, वह इस भावका द्योतक है कि हे माता! श्रीरामजीका आपके प्रति प्रेम आपसे भी अधिक है। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको भी आश्वासन देनेके लिये ही 'दूना' शब्दका प्रयोग किया है, नाप-तौलकी दृष्टिसे नहीं।

( ९ ) जनकजीने जो चित्रकूटमें सीताजीको उपदेश दिया है, वहाँ 'गुरु' शब्द बड़ोंका वाचक है। श्रीरामजीके जो-जो माननीय पूज्य थे, वे सभी गुरुके अर्थमें सम्मिलित हैं। अतः स्त्रियोंके लिये गुरु बनानेकी बात नहीं है।

( १० ) रामनामका स्मरण गोप्य होते हुए भी किसीको सुनाकर करनेका निषेध नहीं है। शब्द यदि दूसरेको न सुनायी दे, पर भाव यह हो कि मैं रामनामका जप करता हूँ, उसे गुप्त रखता हूँ—इसे लोग जानें, तो वह वास्तवमें गुप्त नहीं है। सुनाकर किया जाय, पर उसमें किसी प्रकारकी मान-बड़ाईकी या अपना महत्त्व प्रकट करनेकी भावना नहीं है तो वह गुप्त ही है। यही इसका रहस्य है।

किसी मन्त्रके मनमें अपने-आप होनेवाले स्मरणका दोष नहीं है।

( ११ ) भगवान् श्रीरामको समस्त अयोध्यावासी साक्षात् परब्रह्म जानते थे, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सबके भावका क्या पता लगे। परंतु उनको चाहते सभी थे, उनके प्रति प्रेम सबका था। हाँ, सबका प्रेम एक-सा नहीं हो सकता। अयोध्याका प्रभाव जाननेवाला ही उसका प्रभाव बतानेमें शायद समर्थ न हो तो मैं उसे कैसे बताऊँ?

( १२ ) मानसमें सीता-वनवास, लव-कुशका यौवराज्याभिषेक, लक्ष्मणजीके त्यागका प्रसङ्ग नहीं कहा गया। सम्भव है गोस्वामीजीको यह वर्णन रुचिकर नहीं रहा हो।

'गये जहाँ सीतल अमराई' वाला प्रसङ्ग परम धाम पधारनेका हो, यह बात नहीं है।

( ४ )

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र गीताप्रेस, गोरखपुर होकर मिला। समाचार ज्ञात हुए।

आपने लिखा कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ। पर यह बात कहाँतक ठीक है, इसपर विचार करना चाहिये। अपने मनसे ही पूछिये कि भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, उसका आपको कितना दुःख है। यदि दुःख नहीं है तो वह चाह कैसी।

संसारमें देखा जाता है कि छोटी-से-छोटी आवश्यकताकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य महान् दुखी हो जाता है, उसे चैन नहीं पड़ता; पर भगवान्‌के न मिलनेपर वह चैनसे रह सकता है। फिर भी उसे यह भान होता है कि मैं भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ।

वास्तवमें बात ऐसी है—जो सचमुच भगवान्‌से मिलना चाहता है, भगवान् उससे मिलनेके लिये आतुर हो उठते हैं। पर जो भगवान्‌को सुखकी सामग्री बनाकर उनको प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् कैसे मिलें? जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहेगा, उसे अन्य किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा क्यों रहेगी?

आपने पूछा कि निष्कामभाव प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें कैसे बर्तना चाहिये सो जो साधक निष्काम-भाव प्राप्त करना चाहे, उसे किसी भी व्यक्ति या पदार्थसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा नहीं रखनी चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये, किंतु उसका अभिमान नहीं करना चाहिये। बदलेमें न तो किसीसे कुछ लेना चाहिये, न पानेकी आशा ही रखनी चाहिये। दूसरेके कर्तव्यको नहीं देखना चाहिये। किसीके दोषोंको नहीं देखना चाहिये। समस्त व्यक्ति, वस्तुएँ भगवान्‌की हैं; अतः कोई न तो मेरा है, न पराया है; ऐसा भाव रखना चाहिये। सबका हित करनेका भाव रखना चाहिये। किसीका भी अहित न तो करना चाहिये, न मनमें किसीका अहित चाहना ही चाहिये। ऐसा करनेसे निष्कामभाव प्राप्त हो सकता है।

शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तु न तो किसीसे माँगनी चाहिये और न उसका भार भगवान्‌पर ही छोड़ना चाहिये। बिना याचना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे शरीरके उपयोगमें लगा देना चाहिये। न मिले तो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाना चाहिये। समझना चाहिये कि आज भगवान् अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं। यदि आवश्यकतासे अधिक वस्तु प्राप्त हो जाय तो जिनको आवश्यकता हो, उनके हितमें उसको लगा देना चाहिये। शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्राप्त हो तो उसको शरीरके हितमें लगा देना चाहिये और उसमें भी भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेममें निमग्न रहना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि न तो निष्काम-भावका अभिमान हो और न प्राप्त वस्तुओंके उपभोग-का सुख हो।

आपने लिखा कि मैं दिनभर नामजप करता हूँ, यह अच्छी बात है; पर क्या रात्रिमें नाम-जप नहीं करते? यदि ऐसा हो तो निरन्तर करनेका अभ्यास करना चाहिये।

नामजप विधिपूर्वक होता है या नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। नामजपके लिये अन्य कर्मोंकी भाँति कोई विशेष विधि-विधान नहीं है। उसके लिये तो नाम और नामीके साथ अपनापना ही पर्याप्त है। जिसका नाम लेता हूँ, वह मेरा है और मैं उसका हूँ—यह भाव निस्संदेह और दृढ़ होना चाहिये।

ध्यानसहित आदर और प्रेमपूर्वक किया हुआ जप अनन्त फल देनेवाला है। साधारण जपके साथ उसकी १० गुना और १०० गुना कहकर तुलना नहीं की जा सकती तथा वैसा जप करनेवालेकी दृष्टि भी समय, संख्या और फलपर नहीं रहती। वह तो अपने प्रियतम-का स्मरण इसलिये करता है कि उसके किये बिना उसे चैन नहीं पड़ता, वह बिना किये रह नहीं सकता; क्योंकि वह स्मरण ही उसका जीवन है। यदि उसका सहारा न होता तो उसके लिये अपने प्रियके वियोगमें जीवित रहना भी असम्भव हो जाता।

संख्या पूरी करनेके लिये जपमें जल्दीबाजी न करके भावपूर्वक जप करना चाहिये ।

जप करते समय कोई आ जाय तो उसे भगवान्‌का भेजा हुआ समझकर आदर और प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिये । पर ऐसी बातें ही करनी चाहिये, जिनमें उसका हित भरा हो । ऐसी बातोंमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये, जो किसी अन्यके दोषों या निन्दा-स्तुतिसे सम्बन्ध रखती हो या जो व्यर्थ चर्चा हो ।

साधन किसीके देख लेनेसे प्रकट हो जाता है और न देखनेसे गुप्त रहता है, ऐसी बात नहीं है । साधन वही गुप्त है, जो किसीको दिखानेकी भावनासे न किया जाता हो, जिसके करनेका साधकके मनमें अभिमान न हो, जिसके फलस्वरूप वह किसीसे कुछ आशा न करता हो ।

नामजपके अपराध १० बताये जाते हैं, पर वास्तवमें उसकी महिमापर विश्वास न होना और उसके बदलेमें किसी प्रकारका सुख चाहना यही अपराध है । दूसरे अपराधोंका जन्म इनके कारण ही होता है ।

साधकके मनमें ऐसा भाव नहीं आना चाहिये कि मैं किसी दूसरेका अन्न खाता हूँ । उसे तो समझना चाहिये कि मुझे जो कुछ शारीरिक सेवाके लिये प्राप्त होता है, वह सब कुछ भगवान्‌का है और यह शरीर भी उन्हींका है । उन्हींकी वस्तुका उनके आदेशानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये उपभोग करनेमें मैं तो निमित्त-मात्र हूँ । करने-करानेवाले भी वास्तवमें वे ही हैं; क्योंकि जो कुछ करनेकी शक्ति और योग्यता है, वह भी तो उन्हींकी दी हुई है और मैं स्वयं भी उन्हींका हूँ, फिर दूसरा है ही कौन ?

निष्कामभावमें तो इसके लिये भी स्थान नहीं है कि मैं साधन करता हूँ, उसका फल मिलेगा और आधा हिस्सा अन्नदाताको मिल जायगा; क्योंकि उसके मनमें तो फलका संकल्प ही नहीं रहता, फिर यह शङ्का कैसे हो कि इसका आधा फल अन्नदाताको मिलेगा । यदि कोई फल होता है और सब-का-सब सभी लोगोंको मिलता रहे तो उसे इसकी चिन्ता क्यों होनी चाहिये ।

आहारशुद्धिके विषयमें आपने पूछा सो जिसके आचरण और भाव शुद्ध हैं; जो यथासाध्य अपनी जानकारीके अनुसार पवित्रतापूर्वक भोजन तैयार करता है, उसका बनाया हुआ अन्न शुद्ध है; पर साधकको तो वह तभी स्वीकृत होना चाहिये, जब उसे स्वीकार न करनेपर देनेवालेको दुःख हो और शरीरके लिये उसकी आवश्यकता हो । किसी प्रकारके स्वादसे या मान-प्रतिष्ठासे प्रेरित होकर स्वीकार नहीं करना चाहिये तथा अभिमानसे प्रेरित होकर उसका त्याग भी नहीं करना चाहिये । यदि स्वीकार न करना ही उचित समझा जाय तो बड़ी नम्रताके साथ स्वीकार न करनेका सच्चा कारण निवेदन करके उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये ताकि उसके मनपर किसी प्रकारका आघात न पहुँचे ।

जिसमें सबका हित हो, वही काम करने योग्य है और जिसमें किसीका भी अहित होता हो, वह करने योग्य नहीं है । इसी सूत्रको लेकर कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय कर लेना चाहिये । जिसके करनेकी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसके करनेका विधान हो, जो वर्तमानमें करना आवश्यक हो और जो हितकर हो, वही करना चाहिये । प्रत्येक कामके विषयमें अलग-अलग कहाँतक लिखा जाय ।

आपके मनमें उठनेवाली शङ्काओंका उत्तर विचार करनेपर अपने-आप मिल सकता है । उसपर भी कोई बात पूछनेकी मनमें उठे तो बिना संकोच पूछ लिया करें ।

कल्याणका भार तो भगवान्‌ने किसी दूसरेपर नहीं छोड़ा है, अपने ही हाथमें रखा है । जो अपना

कल्याण चाहता है, उसका कल्याण करनेके लिये प्रभु हर समय तैयार रहते हैं। अतः साधकको दूसरे किसीसे भी अपने कल्याणकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

रामायणमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि 'शंकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि', इसका मुख्य अभिप्राय तो यह माॡम होता है कि जो लोग भ्रमवश भगवान् शंकर और राममें भेदबुद्धि करके राग-द्वेष कर लेते हैं, वे भूल करते हैं। वास्तवमें भगवान् राम और शंकर दो नहीं हैं। रामभक्तके लिये शंकर रामका प्रेमी है, इसलिये भक्तका गुरु है और शिवभक्तके लिये राम शंकरका प्रेमी है, इसलिये वह शंकर-भक्तका गुरु है। जिसको भी रामका प्रेम प्राप्त करना है, उसे उस प्रेमकी शिक्षा भगवान् शंकरसे मिलेगी। उसको वैसा ही भजन, स्मरण और प्रेम करना पड़ेगा, जैसा भगवान् शंकर करते हैं; अतः उसके लिये शंकरकी भक्ति आवश्यक है। उसी प्रकार शंकरके भक्तके लिये रामभक्ति आवश्यक है।

## सत्सङ्ग-सुधा

[ गताङ्कसे आगे ]

४८. काम करते समय जिस किसी वस्तुपर दृष्टि जाय, उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छविको देखनेका अभ्यास कीजिये। साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे। छूटे, फिर पकड़ें, इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ जीभसे नाम एवं मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिल्कुल आपत्ति नहीं। साधना न हो तो दोषकी बात बिल्कुल नहीं है; पर उसके लिये मनमें महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें—समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणापर मन एक सेकंडके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार-बार करते ही गये तो फिर मैं तो संशयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देंगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोंको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नहीं बँधता तो घबराइये मत। कभी वृन्दावन तो गये ही हैं। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमें हो उसकी, उन पेड़-पत्तोंकी धुँधली-सी स्मृति मानस-पटलपर क्या नहीं ला सकते ? मैं ठीक कहता हूँ—मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेंगे वह एक बारकी स्मृति—उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली-सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझें, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेंगे और स्वयं राधा-रानी एवं श्रीकृष्ण उस लता-रूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोड़ेंगे तथा आप चाहें तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं। व्रजकी लताका ध्यान करके लता बननेवाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्तको श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेंगे और विश्वास कर सकेंगे।

स्वयं तो पहले तत्त्वतः श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रजके लता बनेंगे; क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता जड वस्तु नहीं है, वह सच्चिदानन्दमय है। सोचिये,

श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है—बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते हैं, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते हैं, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं! आपसे क्या लता, पेड़, पत्ते, मिट्टीके घड़े, पीतलके कलसेका भी ध्यान नहीं हो सकता? और मजा यह है कि इनमेंसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिल्कुल सच्चिदानन्दमय राज्यमें ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

संध्या-समय, आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती हैं। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस-पटलपर लाकर देखें—गायें आ रही हैं, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन है; क्योंकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमें। पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेड़में, पेड़से मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी पगडंडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमें, धूलिमें (सब सच्चिदानन्दमय हैं) मन लगाकर कहीं—कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते हैं। क्या परिश्रम है? केवल चाहकी कमी है।

यहाँ बैठे-बैठे इस कलममें देखें, भावना करें—यह पेड़-सा दीखता है, वृन्दावनमें हरे पेड़ोंका रंग इससे कुछ भिन्न है। अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेंगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देंगे। वे देखेंगे, अपनी जानमें इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है। गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड़-लता मुझे प्यारे हैं—इसने मेरी प्यारी वस्तुओंका चिन्तन किया है। इसका तो मैं ऋणी हूँ। यह भी जाने दें; और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा राधा। ये शब्द भावुकताकी बात नहीं है—श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे—

> अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
> महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
> तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
> महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी। आप केवल व्रज-लीलामें मनको थोड़ा-सा भी ले जानेका अभ्यास डाल लें, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बड़े-बड़े ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नहीं होती। समस्त जीवन रचे-पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भाग्यमें बहुत ही कम हाथ लगते हैं; क्योंकि उन्हें भगवत्कृपाका अवलम्बन प्रायः नहीं रहता। पर यह व्रज-लीला ऐसी है कि इसमें रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है। नहीं तो, रुचि असम्भव है। आप तो अपना परम सौभाग्य समझें। अब केवल थोड़ा-सा और आगे बढ़ जाइये। इस व्रज-लीलाकी कल्पनामें अपने मनको तदाकार कर दें। यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती। अवश्य ही यह होनी चाहिये सच्ची। व्रजभावसे भावित चित्तसे लता, पेड़, पत्ते, पगडंडी, वन, गायें, गोशालाकी भीत, साड़ी, साफा देखते-देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा। वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड़-बुन रहेगी ही नहीं, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा।

४९. अत्यन्त तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ, गंदी-से-गंदी चीज आगमें पड़कर अपना समस्त मैल—अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें

आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार किसी भी भगवत्-प्रेमी संतमें मिलिये तो सही, मिलते ही थोड़ा नहीं, पूरा-का-पूरा—सब कुछ, जो भी वे हैं, जो भी उनमें है, सब—आपमें उतर आयेगा। आग तो जड है और संत चेतन ही नहीं, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमें रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है, कोई दृष्टान्त नहीं है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ लें। आप ठीक-ठीक उसी रसमें ढलकर, अपने-आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है—यह समझना सम्भव ही नहीं है। वह रस सच्चिदानन्दमय है; आप स्वयं जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड़ लेंगे, तबतक उस रसका आस्वाद नहीं हो सकता। अभी तो मन प्यारा लगता है, पुत्र, परिवार, धन प्यारे लगते हैं। जड वस्तुओंकी तह-की-तह चारों ओरसे लिपटी हुई हैं। वास्तविक आनन्दकी बात छोड़ दें; संतके प्रति साधारण-से सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हमलोगोंमें-से शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो। देखें, मैं कहता हूँ—'आप यह कार्य कर दें' और संत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं। दोनों ही शब्द हैं; पर दोनोंमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमें यह अहंकार वर्तमान है कि 'मैं हूँ'; परंतु 'आप यह कार्य कर दें'—संतके मुखसे निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर है, जो कहता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'
'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥'

परंतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है, निश्चय नहीं मिलता। मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती। वहाँ, संतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो 'सुहृदं सर्वभूतानां'की घोषणा करता है, जिसमें केवल आनन्द-ही-आनन्द है। पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा हो जानी चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है। ऐसा क्यों होता है? इसीलिये कि उसमें मिले नहीं। आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारों ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर वह मिला भी लेगी निश्चय; परंतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नहीं। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उसमें मिल जानेकी तीव्र लालसा नहीं रखते। विश्वास कीजिये—'आप चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो; पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायगा। अस्तु, मिलिये। उसमें मिलिये। अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये। दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा कीजिये। दिन-रात सोचिये, संत कितने कृपालु हैं। दिन-रात यह विचार कीजिये—'कृपामय! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नहीं।' दिन-रात नाम लीजिये, चलते-फिरते नाम लीजिये। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा कीजिये कि संतका संग नहीं छूटे। दिन-रात यही सोचिये कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको संन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा। परंतु यह ठीक है,

नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिल्कुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका; परंतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें, तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी। आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है, इसीलिये कहता हूँ—'रोटी मुझे भी भगवान् ही देते हैं, कपड़े भी वे ही देते हैं, आपको भी वे ही देते हैं और देंगे। फिर अपनी एवं परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं—वे उन्हें नष्ट कर दें, तोड़ दें, फेंक दें या जो भी चाहें करें। मैं क्यों कहूँ,—ऐसा करें, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं—उनकी चाह ही, बस आपकी चाह।' यह भाव ही संत-चरणोंमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है।

५०. आप पाँच सूत्रोंको याद रखें—

१. विषय-त्यागसे प्रेम।

२. लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम।

३. अखण्ड तैलधारावत् भजनसे प्रेम।

४. पर मुख्यतः भगवान्के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है। और—

५. यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

पर निमित्तरूप उपाय है—रोना, भगवान्के सामने रोते जाना। मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये।

५१. पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रह-पर ही मनमें आये; अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमें है—इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्पर छोड़कर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमें समय बिताना—यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

५२. एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो; परंतु जब भी, जिस प्रकार भी बुरे विचार मनमें आयें; उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी संतके पास भेजते रहो; फिर कोई परवा नहीं।

५३. विज्ञानका नियम है—काँच ही नहीं, समस्त धातु बनते ही हैं सूर्यसे। सूर्यकी किरणोंसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है। सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही। उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एवं संतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से-उच्च अधिकारी बन सकता है। आज व्याख्यानमें सुना—लाखों वर्षके अन्धकारको मिटनेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है। जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी। प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा। ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, कुछ भी जरूरत नहीं है। जरूरत है—बस, आप सच्चे मनसे चाह लें इनकी कृपाको ग्रहण करना। निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी। उस सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि दूसरी कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य वस्तुसे मिटे नहीं।

५४. सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण—दोनों ही बातोंके लिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बड़ी विलक्षण हो जायगी। जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य

रह जायगा—कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे, किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जायं। उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति विनोदमें भी आपको बता देगा तो आप वही करनेके लिये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा। वह करना नहीं पड़ता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है। पर अभी क्या दशा है—विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है। भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय—सबसे सरल उपाय, जिसमें मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत-समाप्तिके समय बताया है; पर उसे कौन करनेके लिये तैयार है? भगवान्ने कहा है—

> विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
> प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
> यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
> तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
> अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
> मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
> ( श्रीमद्भा० ११। २९। १६-१७, १९ )

'हँसनेवालोंकी परवा छोड़ दो, लज्जा एवं देहाभिमानादि भी छोड़ दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। जबतक सभी भूतोंमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एवं वाणीकी वृत्तिसे ऐसी उपासना करो। भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमें सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोंमें मन, वाणी एवं शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना की जाय।'

ये श्रीभगवान् कृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर उपदेशक न कोई है, न हुआ है, न होगा। पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा। तरह-तरहकी युक्तियोंका, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देंगे। इसी प्रकार महापुरुषोंमें श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व-त्यागका प्रश्न खड़ा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड़ दीजिये, तुच्छ-से-तुच्छ त्याग भी नहीं सहजमें होगा। आपको जीवन-निर्वाहके लिये कमी नहीं है। पर मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरा-सा कहीं भी उसमें नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय तो सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। ठीक ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, संतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने-आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

५५. हमलोग असलमें भगवान्की महिमा जानते ही नहीं। जानते होते, तो उन भगवान्का साक्षात् करके उनके साथ तरह-तरहके नित्य नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषको देखकर जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना असम्भव है। आप विचारें, भारतवर्षके मुख्य मन्त्रीसे मिलकर जब कोई आदमी बँगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर थोड़ा मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये तथा कहीं वह किसीको मोटरमें साथ बैठा ले, उस समय तो उसके गौरवकी—उसके मनमें अपने ऊँचे होनेकी भावनाकी जो तरङ्गें उठती हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भला, ऐसे-ऐसे अनन्त मुख्य मन्त्री लाट ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके इशारेसे एक क्षणमें पलक मारते-मारते बन जाते हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं, वह अखिलब्रह्माण्डपति स्वयं जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, उसके साथ तरह-तरहकी लीला करें, तो ऐसे पुरुषसे बढ़कर जगत्में और कौन है? मान लें कोई महापुरुष है, वह एकान्त कमरेमें बैठा भगवान्से बातें कर रहा है, उसी समय आप आये, बाहरसे पुकारा और पुकारते ही वह महापुरुष आपसे

बड़े प्रेमसे कहे—आओ, पधारो। अब यदि आप रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते, तो फिर ऐसा अनुभव होता कि जगत्में हमसे बढ़कर भाग्यवान् कोई नहीं। अशान्तिकी तो छाया भी आपको नहीं छू सकती। और मन उस अतुलनीय आनन्दसे निरन्तर इस प्रकार भरा रहता कि जगत् आपको देखकर दंग रह जाता। अरे, जिन आँखोंसे उस महापुरुषने अभी-अभी भगवान्को देखा है, अभी-अभी जिस शरीरको भगवान्ने स्पर्श किया है, उन्हीं आँखोंसे वह महापुरुष आपको देख रहा है, उसी शरीरसे आपको स्पर्श कर रहा है। सच मानिये—यदि किसी दिन भगवान्की अपार कृपासे भगवान्की महत्तापर विश्वास कीजियेगा, उसी दिन बस, महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है—यह समझ सकियेगा। मन बिल्कुल विषयोंसे कूट-कूटकर भरा है। हमलोगोंका मन एकदम गंदा है, इसीलिये महापुरुषके दर्शनका हमें आनन्द नहीं मिलता। समझना-समझाना कठिन है; पर वस्तुतः महापुरुषके सङ्गका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, उस आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती। वह आनन्द क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है, कभी समाप्त नहीं होता। हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोग प्रार्थना करें—'प्रभो! अत्यन्त पामर, दीन, हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो। नाथ! तुम्हारे जन संतोंके प्रति निस्स्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो।' प्रतिदिन प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे बड़ा काम होता है। सच मानिये—ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् न दे सकें। ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें। वे असम्भवको सम्भव, एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं। पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है।

**हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥**

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमें आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शंका-संदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी। भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

> जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई।
> तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहे नाथ भलाई॥

'नाथ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता, तब मेरे नाथ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो।'

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं। निश्चय मानिये—जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्में, विनोदकी भाषामें कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें। अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी? एक ओर अखिल ब्रह्माण्ड-पति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा। इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्की होगी।

५६. सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं। काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ—सब सूर्य ही बनाते हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है। पर उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमेंसे किसीपर तो किरण खूब चमकती है, किसीपर किरण पड़कर थोड़ा गरम होकर ही रह जाती है। इसी प्रकार अहैतुकी कृपा ही सबमें भगवद्विश्वास पैदा करती है। धीरे-धीरे यह कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामें पड़े रहकर अपने-आप अन्तःकरण पूर्ण कृपा-प्रकाशका अधिकारी बन जाता है। इसलिये घबराना नहीं चाहिये—बस, पड़े रहना चाहिये।

कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें फिर आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा ।

५७. यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा; परंतु भगवान्‌में यह बात नहीं है । भगवान् और भगवान्‌का स्वरूप दो वस्तु नहीं हैं । जिस समय आप भगवान्‌की मूर्ति अपने मानस-पटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमें आ जाते हैं । पर वे बोलते इसीलिये नहीं हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और थोड़ी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं । यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रखे तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायँगे; क्योंकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं । जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं । आप ही सोचें—धन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है ? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसीसे पूछी थी ? नहीं पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी; क्योंकि धनकी चाह थी । इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौड़ेगी । धन तो चाहनेमात्र-से नहीं मिलता, उसके लिये न जानें कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं । पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है । 'हे नाथ ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायँगे । आप ही सोचें—जब भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं ? और जब उसकी कीमत आपके मनमें ज्यादे है तो भगवान् क्यों आयें ? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है; पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे । मैं तो अपनी बात कहता हूँ—सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे ।

५८. मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई ।
जहँ जहँ अंगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई ॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि
इक रसना मो पै बरनि न जाई ।
गोबिंद प्रभु की बानिक ऊपर
बलि बलि रसिक चुड़ामनि राई ॥

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेनेपर भी श्यामसुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता । त्रिभुवनमें सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते हैं; पर शास्त्रमें ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोड़वें अंशके करोड़वें अंशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है । श्रीकृष्णके एक-एक अङ्गपर करोड़ों कामदेवकी छवि फीकी पड़ जाती है । यह केवल भावुकताकी बात नहीं है । सचमुच ही जिन संतोंको उनकी हलकी-सी झाँकी मिल जाती है, वे बिल्कुल पागल-से हो जाते हैं । इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोंका हृदय बिक जाता है । साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकों-का नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण नाम सुननेका एवं उनकी वंशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हें प्राप्त होता है । बस, एक बार इन तीनोंमेंसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्‌में कहीं कोई तुलना ही नहीं है । सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे हैं, उन्हें 'हिलग'के पद कहते हैं । यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता । जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर

भजन-स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है। अस्तु, जब गोपियोंकी व्याकुलता—श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हें सेवाका अधिकार मिलता है। फिर एक लीला होती है—विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोंको छोड़कर मथुरा चले जाते हैं और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं। इसी वियोगकी दशामें प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है। प्रेम क्या वस्तु है, यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओंने लीला देख-देखकर जो पद लिखे हैं, वे विरहके पद कहे जाते हैं। महात्माओंके जो पद मिलते हैं, उनमें भी कुछ ऐसे हैं, जो कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर—अनुभव करके लिखे गये हैं। यह निर्णय पहुँचे हुए संतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौन कल्पनाका। पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये, पामर प्राणियोंके लिये तो सभी पद—चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों—पवित्र करनेवाले ही हैं। अतः श्रद्धासे युक्त होकर व्रज-सुन्दरियोंकी कैसी दशा होती है, प्रेमकी कैसी विलक्षण अतुलनीय अवस्था होती है—इसे सुनकर कृतार्थ होनेकी आशासे, उन व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए उनकी कृपाके एक कणकी भीख माँगते हुए हम-लोग उनकी विरह-चर्चा करें, सुनें। मन लगानेके उद्देश्यसे, नहीं, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करें।

उन विरहके पदोंमें भी कई तो श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके। पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं। अस्तु, किसीके भी हों, हमारे-जैसोंको चरणोंमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओंको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें—यही राधारानीसे, व्रजसुन्दरियोंसे एवं श्रीकृष्णसे प्रार्थना है।

५९. प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमें होता है। रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है। उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है—प्रेम-वैचित्त्य। इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमें ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोंमें भी होना सम्भव है। इसमें होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमें रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर लेटी रहती हैं, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमें छोड़कर कहीं चले गये और रोने लगती हैं—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है। श्रीकृष्णकी गोदमें रहकर ही ऐसी दशा होती है। श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द-निमग्न होते हैं तथा राधा-प्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते हैं।

रासलीलामें सब गोपियोंको छोड़कर श्रीकृष्ण राधा-रानीको एकान्तमें ले चले। वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरङ्गोंका प्रवाह आरम्भ हुआ। श्लोकोंमें उसका संकेत श्रीशुकदेवजीने किया है। इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई। यह मान यहाँका निकृष्ट अभिमान नहीं है। लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर चले गये; पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी। यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नहीं कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका संकेत प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपनी रासकी टीकामें इसका संकेत भी किया है। अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते-बढ़ते वैचित्त्य-की अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगीं कि

श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं। 'हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ!' आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमें पड़ी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही हैं और श्रीकृष्ण आनन्दमें डूब रहे हैं। श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं। उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामें ले चलें, उन्हें गोपियाँ दीखने लग जाती हैं। इसलिये श्रीकृष्ण वहीं वृक्षोंकी आड़में खड़े हो जाते हैं। गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामें पाती हैं, उनको चेत कराती हैं। राधारानी समझती हैं कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर बहुत पहले चले गये हैं; पर श्रीकृष्ण तो उन्हें अभी-अभी छोड़कर गये हैं। इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजीमें ही होता है। हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्न स्तरमें भी जा पहुँचें तो जगत्‌की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती हैं—एक सखियोंके साथ, सखियोंकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमें, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं। प्रेमके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है। उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मञ्जरियोंको, दासियोंको, सहेलियोंको, सखियोंको निकुञ्ज-छिद्रोंसे होता है और कुछका तो बिल्कुल ही नहीं होता।

ऐश्वर्य, गुण, ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों-की-त्यों रहती है; पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम—सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है।

## श्रीराधा-कृष्णका अलौकिक विहार

करत हरि नृत्य नव रंग राधा संग लेत नव गति भेद चरचरी ताल के।
परसपर दरस रस मत्त भए ततथेई थेई गति लेत संगीत सुरसाल के॥ १॥
फरहरत बर्हिबर थरहरत उर हार भरहरत भ्रमर बर बिमल बनमाल के।
खसित सित कुसुम सिर हँसत कुंतल मनो लसत कल झलमलत स्वेद कन भाल के॥ २॥
अंग अंगन लटक मटक भृंगन भौंह पटक पट ताल कोमल चरन चाल के।
चमक चल कुंडलन दमक दसनावली विविध विद्युत भाव लोचन विसाल के॥ ३॥
बजत अनुसार द्रिमद्रिम मिरदँग निनाद झमक झंकार कटि किंकिनी झाल के।
तरल ताटंक तड़ित नील नव जलद में यों विराजत प्रिया पास गोपाल के॥ ४॥
जुवति जन जूथ अगनित बदन चंद्रमा चंद भयो मंद उद्योत तिहिं काल के।
मुदित अनुराग वस राग रागिनी तान गान गति गर्व रंभादि सुर बाल के॥ ५॥
गगनचर सघन रस मगन बरषत फूल वार डारत रतन जतन भर थाल के।
एक रसना 'गदाधर' न बरनत बनै चरित अद्भुत कुँवर गिरिधरन लाल के॥ ६॥

# साधनकी सफलता

( लेखक—साधुवेषमें एक पथिक )

मानव-जीवन साधन-भूमि है; शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, अहंवृत्ति—सब-के-सब साधन ही हैं और ये परमात्माकी कृपासे ही हमें मिले हैं। इस समग्र जीवन-रूपी साधन-भूमिमें हम प्राप्त साधनद्वारा सब कुछ ग्रहण करते हैं और गृहीत वस्तुका विपरीत परिणाम भोगकर या देखकर साधनद्वारा उनका त्याग कर देते हैं। गुरु-प्रदत्त विवेकद्वारा हमें बहुत ही सुन्दर बात विदित हुई कि साधनके सहारे हमलोग कुछ भी ग्रहण करने और छोड़नेके लिये स्वाधीन हैं; साथ-ही-साथ हमें बहुत हितकर स्वतन्त्रता भी मिली है कि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, उसका हम दुरुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम अनेक कष्ट और दुःखके रूपमें भोगना पड़ता है तथा सदुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम सुख-शान्ति-आनन्दके रूपमें देखा जा सकता है। शास्त्र, संत और गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा प्रेरणा मिलती है कि शरीर-बल कर्म करनेका साधन है, इसका सदुपयोग दूसरोंकी सेवा-सहायतामें होना चाहिये। इन्द्रियाँ भी साधन हैं, इनकी शक्तिका सदुपयोग सेवा-सहायताके कर्म विधिपूर्वक करनेमें है। मन भी साधन है—इसमें भावकी शक्ति है, सर्व-हितकारी प्रवृत्तिमें बदल देनेसे इसका सदुपयोग हो जाता है; ऐसा करते ही संकल्प शुद्ध हो जाते हैं, भावना पवित्र बन जाती है और निरन्तर उच्चतम आदर्श-का ही मनन होने लगता है। अशुभ संकल्पकी पूर्ति शक्तिका दुरुपयोग है; शुभ संकल्पकी पूर्ति मनःशक्तिका सदुपयोग है। दुरुपयोगसे दुर्गति और सदुपयोगसे सद्-गति होती है। चित्त भी साधन है, इसमें चिन्तनकी शक्ति है, चिन्तनगत वस्तु या भावकी ही तद्रूपता मिलती है। पवित्र वस्तु, सद्गुण और परम शुद्ध आत्माका ही चिन्तन करना चित्तकी शक्तिका सदुपयोग है। बुद्धि भी सर्वोच्च साधन है, इसमें दर्शनकी शक्ति है। जिस प्रकार नेत्रद्वारा स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धिद्वारा प्रत्येक पदार्थका भीतरी रूप देखा जाता है। मनकी भाव-शक्तिसे किसी भी वस्तुको अपनाया या स्वीकार किया जाता है तो बुद्धिकी दर्शनशक्तिसे स्वीकृत-को सम्यक् प्रकार देखा जाता है—स्वीकृतिके परिणामका ज्ञान होता है। यह बुद्धि प्रपञ्च और परमार्थ—दोनोंके ज्ञानका साधन है।……शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्तके समस्त कर्मव्यापारके पीछे यदि बुद्धिरूपी साधनका सदु-पयोग न किया जाय तो जीवनकी गति घोर अन्धकारमें होती है। बुद्धिरूपी साधनके सदुपयोगसे मानवतामें दिव्यता प्राप्त होती है। जीवनमें चैतन्य-सत्ता—आत्माके योगसे बुद्धिमें ही अहंवृत्ति स्फुरित होती है; यह अहं भी साधन है, इसमें सब कुछ आत्मसात् करनेकी अथवा भिन्नतामें अभिन्नता प्राप्त करनेकी शक्ति है। इस शक्तिके द्वारा देहादि असत् वस्तुओंसे अभिन्नता स्वीकार करना शक्तिका दुरुपयोग है और सर्वाश्रय परमाधार अविनाशी आत्मा—परमात्मामें अभिन्नताका अनुभव करना प्राप्त शक्तिका सदुपयोग है।…… जीवनरूपी साधन-भूमिमें प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यको पतितावस्थाकी वेदना भोगनी पड़ती है और सदुपयोगसे ही उच्चावस्था, मुक्तावस्थाका आनन्दानुभव होता है। गुरुप्रदत्त विवेकके प्रकाशमें ही साधनका सदुपयोग किया जा सकता है। वास्तवमें परमार्थ-सिद्धिके लिये जो साधना बतायी गयी है, वह दोष-निवृत्तिके लिये ही है। प्रायः हमलोग शास्त्र और संतके वाक्य तो पकड़ लेते हैं पर उनके भीतरी रहस्यको नहीं देख पाते। अनेक परमार्थी साधक वर्षोंसे अपने ढंगसे साधना करते रहते हैं; पर उससे जो स्थिरता, समता, शान्ति, शक्ति मिलनी चाहिये,

वह नहीं मिलती, ऐसा होनेपर भी प्रमादवश भूलकी शोध नहीं की जाती है और प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर साधनासे ही साधक निराश हो जाते हैं और कभी-कभी तो भगवान्‌की कृपा न होनेकी त्रुटि निकालने लगते हैं। विचारशील पुरुष जानते हैं कि भगवान्‌की कृपाका कहीं भी अभाव नहीं है; अभाव तो है उस दृष्टिका, जिसके द्वारा कृपाका नित्य दर्शन हो सकता है; यह दृष्टि गुरु-प्रदत्त विवेकसे मिलती है और गुरु-प्रदत्त विवेक सुलभ होता है श्रद्धापूर्वक तत्त्वज्ञानी पुरुषकी सुसंगतिसे।

यह सत्पुरुषोंका ही अनुभव है कि जीवकी अहंकार-रूपी ग्रन्थि जबतक नहीं खुलती, वह विनत होकर सम्पूर्ण भावसे अपने आपको अपनेसे महान्‌की शरणमें समर्पित नहीं करता अथवा लघुता, क्षुद्रता, न्यूनताकी वेदनासे व्यथित होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मासे प्रार्थी नहीं बनता, तबतक उसके स्वच्छन्दता-प्रमाद आदि दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती। दृश्यको अदृश्य करना और अदृश्यमें दृश्यको रखकर सदा सम, शान्त, निर्द्वन्द्व रहना ज्ञानी महापुरुषकी कला है। इसके प्रतापसे मनुष्योंका मोह उन्हें नहीं व्यापता। एक अज्ञानीके लाखों अभिप्राय हुआ करें, पर लाखों तत्त्वज्ञानियोंका एक ही अभिप्राय होता है, एक ही लक्ष्य होता है। वे अनेकता-के पीछे निरन्तर एक तत्त्वका अनुभव करते हुए पूर्ण शान्त रहते हैं। तत्त्वज्ञानीके सङ्गसे साधकको अपने भीतर जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होता है, वह कोई बात रटकर याद करनेकी तरह नहीं है; वह तो ऐसा प्रकाश है, जो जीवनकी अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं और हर्ष-शोकके मध्यमें प्रकाशित रहता है और सामयिक कर्तव्य स्पष्ट करते हुए परमार्थीको निर्भय और निश्चिन्त रखता है। जिस ज्ञानके द्वारा साधक असत् वस्तुसे विरक्त और सत्य तत्त्वमें अनुरक्त न हो सके, वह ज्ञान नहीं, विद्याभिमान है। आध्यात्मिक सामर्थ्य प्राप्त होनेपर जो कुछ अकरणीय और अशुभ है, वह संयमी साधकके द्वारा होता ही नहीं; और जो कुछ करणीय है, शुभ है, वह अनायास ही होता रहता है। उसके द्वारा सभीका हित होता है, किसीका अहित होता ही नहीं। आत्म-निरीक्षण करते हुए निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि कहीं प्राप्त शक्ति और जीवनरूपी साधनका दुरुपयोग न हो जाय।

समस्त कर्मोंकी सबसे बड़ी ग्रन्थि राग-द्वेषकी है, इसीमें अहंकार बद्ध रहता है, इसकी निवृत्तिका उपाय त्याग और प्रेम ही है। त्याग-प्रेमकी पूर्णताके लिये गुरु-प्रदत्त विवेककी आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों रागका त्याग होता जाता है, इच्छाएँ घटती जाती हैं, त्यों-त्यों बन्धन कटते जाते हैं, दुःख कम होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों द्वेष मिटता जाता है, अशुभ संकल्प हटते जाते हैं, त्यों-त्यों संघर्ष और भेद-भाव भी मिटते जाते हैं, अशान्ति हटती जाती है; अन्तमें राग-द्वेषके पूर्ण अभावमें—त्याग-प्रेमकी पूर्णतामें ही अगाध शान्ति और अखण्ड एक रसका अनुभव होता है। अशुद्धके चिन्तनसे ही चित्त अशुद्ध होता है, शुद्धके चिन्तनसे ही चित्त शुद्ध होता है। साधकको भगवान्‌के गुण, दिव्य रूप, लीला-धामके चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रहना चाहिये। वास्तवमें अपने कर्तव्यको पूर्ण करते रहना ही मानवका चरम लक्ष्य नहीं है, इससे भी आगे परमानन्द परमात्माका नित्य योग प्राप्त करना अन्तिम ध्येय है; यही परम पुरुषार्थ है।

## उद्बोधन

रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि।
भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि॥

# मनका दृढ आधार

( लेखक—पं० श्रीवलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य )

भगवान्‌ने मनके रूपमें हमारे भीतर एक दैवीशक्तिसे सम्पन्न वस्तुको निहित कर रखा है। हम नित्यप्रति मनकी शक्तियोंको देखते हैं, परंतु उसकी गहराईके भीतर कभी नहीं उतरते। यदि हम सावधानीसे उसमें उतरें तो हमें पता चलेगा कि उसके भीतर कितनी शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। इसीलिये वैदिक ऋषियोंने मनको 'शिवसंकल्प' होनेकी अनवरत प्रार्थना की है। मन जो भी संकल्प करता है, उसे कार्यरूपमें परिणत कर देता है। अतएव आवश्यक है कि मनका संकल्प 'शिव' हो, रौद्र न हो; विधायक हो, विनाशक न हो; कल्याणका स्रष्टा हो, विनाशका रचयिता न हो। जितने बड़े-बड़े मङ्गल कार्योंकी संघटना हम देखते हैं, उनके भीतर यह मनका 'शिवसंकल्प' सदा जागरूक रहता है। किसी भी कार्यको व्यवहारके स्तरपर आनेसे पहले मानसिक तथा वाचनिक स्थितिसे होकर जाना ही पड़ता है। इसलिये अपने यहाँ एकाकारताका प्रतीक है—मनसा-वाचा-कर्मणाका सिद्धान्त। उपनिषदोंका यही कथन है कि व्यक्ति मनके द्वारा जो चिन्तन करता है, उसीको वचनोंके द्वारा प्रकट करता है तथा आगे चलकर उसे ही वह कार्यके रूपमें निष्पन्न करता है। अतएव यदि आप किसी शुभ कार्यको करनेके लिये उद्युक्त हैं तो सर्वप्रथम अपने मनके संकल्पको कल्याणकारी बनाइये। वही मूल स्रोत है। कार्य-मन्दाकिनीका मन ही स्रोतभूत हिमाचल है। कार्य-सरिता अपनी पुष्टि तथा समृद्धिके लिये वहींसे पवित्र संकल्प-सलिलको एकत्र करती रहती है। यह माना सिद्धान्त है कि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी शक्ति विलक्षण तथा व्यापक है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तथा गहराईतक पहुँचानेवाली होती है। होमियोपैथिक औषधोंके चुनावमें यही तो सिद्धान्त काम करता है। जो दवा जितनी सूक्ष्म होगी, उसका प्रभाव उतना ही अधिक, चिरस्थायी तथा दीर्घकालीन होगा। 'बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः' भारविके इस कथनका संकेत ऐसे ही सूक्ष्म औषधकी ओर है।

मन अणु माना गया है। उसकी शक्ति आणविक शक्ति है। आजकलकी भाषामें वह 'ऐटमबम'की तरह कार्यशाली है। बमका प्रयोग हानिके लिये ही हो रहा है, परंतु वह विधायिनी शक्तिके उत्पादनके लिये भी लगाया जा सकता है और आजका वैज्ञानिक उसी उपायके खोजनेमें लगा है, जिससे वह संचालितशक्ति हानि न उत्पन्नकर लाभ ही पैदा करे। मनकी भी ठीक यही दशा है। वह हमारे शरीरके भीतर रहनेवाला 'ऐटमबम' ही है। वैदिक ऋषियोंने मनकी दो शक्तियोंपर विशेषरूपसे जोर दिया है। एक शक्ति है—नयनशक्ति और दूसरी है नियमनशक्ति। इस सुप्रसिद्ध मन्त्रमें इन्हीं दोनों शक्तियोंकी ओर लक्ष्य किया गया है—

> सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
> नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
> हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
> तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

इस मन्त्रमें सुन्दर सारथिकी उपमा मनसे तथा इन्द्रियोंकी उपमा घोड़ोंसे बड़े सुन्दर ढंगसे दी गयी है। 'अश्व' तथा 'वाजी' शब्द सामान्यतः घोड़ेके लिये प्रयुक्त होते हैं, परंतु दोनोंमें अन्तर है। अश्व है साधारण घोड़ा, जो टिक-टिक करता हुआ अपना रास्ता तै किया करता है; परंतु 'वाजी' है वह तीव्र गतिवाला, जोरोंसे दौड़नेवाला घोड़ा, जिसे यदि न रोका जाय तो वह किसी भयानक दुर्घटनामें अपने सवारको डाल देगा। सुयोग्य सारथि प्रथम प्रकारके घोड़ोंको मार्गमें ले जाता है—उन्हें चाबुक मारकर आगे बढ़नेको बाध्य करता है, परंतु वह वाजीको उन्मार्गमें जानेसे रोकता है लगामको जोरोंसे खींचकर। एकका वह नयन करता है, तो दूसरेका नियमन ( नियन्त्रण )। मनका ठीक यही कार्य है। कुछ आदमी स्वभावसे इतने शिथिल होते हैं कि मनको उन्हें प्रेरित करनेकी आवश्यकता होती है और कुछ ऐसे उद्धत होते हैं कि उन्हें विवेकमार्गपर रोककर रखनेकी आवश्यकता होती है। मन दोनों ही कार्य करता है। वह हृदयमें प्रतिष्ठित होता है ( हृत्प्रतिष्ठम् ) तथा कभी वृद्ध नहीं होता ( अजिरम् )। शरीर जीर्ण-शीर्ण भले हो जाय, झुर्रियाँ भले लटकने लगें, भले ही वह अपने पैरोंपर सीधे न खड़ा हो सके और लकुटिया टेककर ही वह चल-फिर सके; परंतु क्या मनकी दशा वैसी होती है? वह एकदम जवान बना रहता है, शक्तियोंका पुञ्ज बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वीके नीचेसे झरना स्वयं फूट निकलता है, उसी प्रकार मनकी शक्तियाँ भी

वृद्धावस्थामें भी उससे फूटकर निकला करती हैं। यह निश्चित है मन कभी बूढ़ा नहीं होता। वह नितान्त वेगशाली है। उससे शीघ्रगामी वस्तुका पता नहीं है। शीघ्रगमनमें मन ही उपमानभूत है। इस विषयमें वह कभी उपमेय नहीं होता। लङ्काको पार करनेवाले मारुत-नन्दन हनुमान्‌जी 'मनोजव' बतलाये गये हैं। ऐसे प्रभावशाली मनके संकल्प=इच्छाएँ शिव हों, कल्याणकारी हों—वैदिक ऋषि-की यही प्रार्थना है और इससे सुन्दर प्रार्थना और हो ही क्या सकती है। गीता कहती है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' मनुष्य श्रद्धाका पुञ्ज है। वह संकल्पका खजाना है। इसीलिये संकल्पके शिवत्वकी प्रार्थनाकी गयी है।

हमारे मनमें बड़ी भारी शक्ति भरी हुई है। मन तो जीता-जागता डायनमो है, जिससे अपनी इच्छाके अनुसार बिजली पैदा की जा सकती है। मन जो इच्छा करता है वह एक दिन पूरा हुए बिना न रहेगी। जितना मन शुद्ध होगा, उतना ही जोर उसकी इच्छामें बना रहेगा। प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी बातें हमने पुराणोंमें सुनी हैं। मन उनका इतना सात्त्विक था कि जिस वस्तुकी उन्होंने इच्छा की, वह तुरंत पैदा हो जाती थी। आजकल अशुद्ध मन यह काम नहीं कर सकता; पर इसे तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसमें असीम शक्ति भरी हुई है।

तब हमें अपने मनसे कैसे काम लेना चाहिये? मन जिधर जायगा, उधर ही उसकी शक्ति खर्च होगी। मान लीजिये कि मेरा मन किसी लोभ्य वस्तुपर लगा हुआ है, तब तो उतनी उसकी शक्ति घट जायगी। यदि दूसरी ओरसे भी उसी जोरकी अभिलाषा हो तो दोनों मिलकर अनुकूल भावका अनुभव करेंगे। पर यदि उधरसे अनुकूल भावकी प्रेरणा नहीं हुई तो हमारा मन बेहाथ हो जायगा, उसकी सारी शक्ति मारी जायगी। इस कारणसे वह अपनेको हीन, क्षीण पायेगा। इस संसारके पदार्थ नश्वर ही तो हैं। अतः उनसे यदि मन लगा तो कभी-न-कभी आधारके नाश हो जानेपर मनकी क्या बुरी दशा होगी, इसका भी तो विचार करना चाहिये। स्त्रीमें मन लगा है, कभी वह संसारसे चल बसती है। जिस प्रकार बिना जंजीरकी नाव आँधीके समय नदीकी उत्ताल तरङ्गोंके ऊपर थपेड़े खाती हुई सीधी नहीं रह सकती, उलटकर सरिताके नीचे जाने लगती है, ठीक वही दशा इस आश्रयहीन मनकी हो जाती है। शोक चारों ओरसे इसे थपेड़े मारने लगता है। विकलताकी आँधी चारों ओरसे बहने लगती है। फल यही होता है कि चित्त काबूमें नहीं रहता, पागल हो जाता है। किसीका थोड़े समयके लिये और किसी-का तो सदाके लिये। मनकी प्रवृत्तिके वेगावेगके ऊपर यह परिणाम अवलम्बित रहता है। यह तो हुई नश्वर आश्रयपर अवलम्बित रहनेवाले मनकी दुर्दशाकी करुण-कहानी।

ऐसे मनको ठहरानेके लिये हमें दृढ़ आधारकी आवश्यकता होती है। एक तो स्वयं चञ्चल ठहरा, जविष्ठ ठहरा। फिर यदि वह चञ्चल विषयकी ओर लगाया जायगा, तब वह और भी चञ्चल हो उठेगा। तूफानके समय मल्लाह अपनी नावको ठोस जमीनमें खूँटोंको गाड़कर टिकाता है। यदि जमीन दलदली हो तो न तो नावका पता चलेगा और न मल्लाहका। दोनों बेकिनार हो रहेंगे। ठीक यही दशा मनकी है। यदि दृढ आधारपर उसे हम नहीं टिकायेंगे तो वह हमें कहींका न रखेगा। न इस घाट लगेगा और न उस घाट। वह हमें अथाह सागरमें ले जाकर झोंक देगा। इसीलिये संतोंका कहना है कि मनको बाँधनेके लिये दृढ़ रस्सी चाहिये, उसे टिकनेके लिये दृढ़ आधार चाहिये, उसे पकड़ रखनेके लिये दृढ़ प्रलोभन चाहिये। तभी वह काबूमें आ सकता है। हम नहीं कहते कि उसे मार डालो। उसे जीवित रहने दो। वह मारे मरेगा नहीं। परंतु उसका उपद्रव करनेका जो स्वभाव है उसे तो दूर भगा दो। उसे शुभ कर्मोंमें लगाओ—यही ऋषियोंका साग्रह कथन है।

इसके लिये हम क्या करें? मनका उपयोग अपने हितमें कैसे करें? उपाय तो आपाततः कठिन है। पर अभ्याससे कौन वस्तु साध्य नहीं होती। पहले तो इसे बाहर जाने ही न दीजिये। जितना बाहर जायगा, उतना ही यह क्षीणशक्ति—हीनवीर्य—होता जायगा। इसकी शक्तिको भीतर-ही-भीतर संचित कीजिये। किसी भी इष्टदेवमें इसे लगा दीजिये। बस, अनश्वर देवताके साथ यह सदा खेला करे। यदि यह रूपका लालची है तो घनश्यामकी पीताम्बर-कलित मयूर-पुच्छधारी वनविहारी छविको सदा निरखा करे। यदि मधुर शब्दोंके सुननेकी अभिलाषा उठती है तो तीनों लोकोंको भुला देनेवाली काम-मन्त्रसे अनुप्राणित मुरलीकी आवाजको सुना करे। यदि हाथ-पाँव अपने-अपने काम करनेके लिये उतावले हो रहे हैं तो इन्हें भगवान्‌के ही काममें लगा दो। हाथ भगवान्‌के विग्रहकी पूजा करें तथा पाँव मन्दिरमें जा-जाकर अपनी चरितार्थता अनुभव किया करें। यदि नाकसे सुगन्धित वस्तुके सूँघनेकी इच्छा है तो बनमालीके शरीरस्पर्शसे परिचित होनेवाली

पुष्पमाला तथा तुलसीकी गन्धका आनन्द लिया करो। ये वस्तुएँ हैं किनकी ? उनकी, जो इस जगत्के नियन्ता हैं, सबके आधार हैं, सदा रहनेवाले हैं, सर्वत्र रहनेवाले हैं। यदि ऐसे व्यक्तिमें हमारा मन लगा रहेगा तो क्या उसकी शक्ति कभी क्षीण होगी। क्या उसे कभी विचलित होनेका अवसर आयेगा ? नहीं, कभी नहीं। आनन्दमयी माँके साथ जो मन क्रीड़ा करता है, उसे असुख कहाँ ? सच्चिदानन्दके साथ जो रहता है, उसे बेचैनी कहाँ ? गोपी-सखाके साथ जो वृन्दावनकी हरियालीका मजा लेता है, उसे उदास या सूखा रहनेका अवसर कहाँ ?

अतः प्यारो ! छोड़ो पुत्र-कलत्रकी ममता। छोड़ो उनमें चित्त लगाना; जोड़ो इसे भगवान्के अरविन्दसुन्दर चरणद्वन्द्वमें। तभी कल्याण होगा। तभी एकान्त मङ्गल होगा। तभी विषय वा गुणोंसे मुक्ति लाभ करोगे। अन्यथा नहीं। तथास्तु—

शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

# एक वैज्ञानिकका ईश्वरमें विश्वास

## [ सात कारण ]

( ले०—श्रीयुत ए० क्रेसी मॉरिसन ( न्यूयार्क एकैडेमी आव् साइंसके भूतपूर्व सभापति )

हम अभी वैज्ञानिक युगके उषःकालमें ही निवास करते हैं और प्रकाशकी प्रत्येक रश्मि किसी विचारशील स्रष्टाकी निर्माण-चातुरीको ही अधिकाधिक आलोकित कर रही है। डार्विनके बाद इन ९० वर्षोंमें हमने आश्चर्यजनक गवेषणाएँ की हैं। विज्ञानजनित विनय एवं ज्ञानकी भूमिसे उपजी श्रद्धाके द्वारा हम क्रमशः ईश्वराभिज्ञताके समीप पहुँच रहे हैं।

भगवान्के प्रति मेरे अपने विश्वासके सात कारण हैं—

पहला—गणितशास्त्रके स्थायी नियमोंद्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि विश्वकी कल्पना और रचना किसी निर्माणशास्त्रीकी बुद्धिसे हुई है।

मान लीजिये आपने दस पैसोंपर क्रमशः १ से १० तककी संख्या लिखी और उन्हें अपनी जेबमें डालकर अच्छी तरहसे हिला-मिला दिया। अब आप एक संख्यावाले पैसेको निकालकर फिर सबको हिला-मिलाकर दो संख्यावाले पैसेको निकालिये और फिर सबको हिला-मिलाकर तीन संख्यावाले पैसेको निकालिये और इसी क्रमसे दसों पैसोंको निकालनेकी चेष्टा कीजिये। गणितकी प्रक्रियाद्वारा हमें यह विदित है कि एक संख्यावाले पैसेको पहली ही बार निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रति दस बारकी चेष्टामें एक बार होगी। क्रमसे एक और दो संख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रतिशत चेष्टामें केवल एक बार होगी। एक, दो और तीन संख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना १००० बारमें एक बार होगी और इसी तरहसे यह हिसाब बढ़ता ही जायगा। विश्वास होना कठिन है, परंतु इसी तरहसे क्रमपूर्वक दसों पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना दस अरब बारकी चेष्टामें केवल एक बार होगी।

इस दृष्टान्तके आधारपर यह कहते नहीं बनता कि पृथ्वीपर जीवधारियोंके रहनेके लिये परमावश्यक नियमोंका पारस्परिक अत्यन्त उचित सम्बन्ध केवल एक आकस्मिक घटनामात्र है। पृथ्वी अपनी धुरीपर घंटेमें एक हजार चक्कर लगाती है। यदि यह घंटेमें दस ही बार घूमती तो हमारे दिन और रात आजसे दसगुने बड़े होते और प्रतिदिन सूर्य सारे पेड़-पौधोंको भस्म कर डालता तथा यदि कोई अंकुर कहीं बच भी रहता तो बड़ी लंबी रातकी सर्दीमें उसे पाला मार जाता। हमारे जीवनके परम साधन सूर्यके धरातलका तापमान १००००° फारेनहाइट है; और हमारी पृथ्वी उससे ठीक उतनी ही दूरी पर है जहाँ कि यह सनातन अग्न्याधार हमें केवल आवश्यकतानुरूप पर्याप्तमात्र उष्णता प्रदान करता है, न अधिक न कम। हमें सूर्यसे जितनी गर्मी मिलती है, कहीं उसकी आधी ही मिले तो हम सर्दीके मारे जम जायँ और यदि कहीं जितनी गर्मी प्राप्त होती है उसकी आधी और बढ़ जाय तो फिर सब भून उठेंगे। पृथ्वी अपनी धूरीपर सीधी न खड़ी होकर २३° का कोण बनाती हुई झुकी है जिसके कारण ऋतुओंका होना सम्भव हुआ है। यदि यह झुकाव न होता तो समुद्रसे उठे हुए जल-वाष्प

सुदूर उत्तर या दक्षिणकी ओर जाकर बरसते और हमारे महाद्वीप बर्फसे ढके रहते। चन्द्रमा जहाँ है, वहाँ न रहकर यदि हमसे ५० सहस्र मीलकी दूरी पर स्थित होता तो इतने प्रबल ज्वार आते कि दिनमें दो-दो बार सारे महाद्वीप जलमग्न हो जाते; बड़े-बड़े पहाड़ भी कट-कटकर सफाचट हो जाते। पृथ्वीकी ऊपरी परत दस फुट भी और मोटी होती तो हवामें ओषजन (Oxygen) नामक वायु नहीं होता और इसके अभावमें सारा प्राणि-जगत् मृत्युकी गोद-में सो जाता। इसी प्रकार यदि समुद्र भी कुछ ही फुट और गहरे होते तो ये वायुके कर्बन द्विओषित (carbon de oxide) एवं ओषजन अंशोंको सोख लेते और पृथ्वी वनस्पति-शून्य हो जाती। अथवा यदि हमारा वायुमण्डल वर्तमानसे अत्यधिक सूक्ष्म होता तो करोड़ोंकी संख्यामें जलते हुए उल्कापात होते रहते और संसारमें नित्य सर्वत्र आग लगती रहती। इन तथा असंख्य अन्य उदाहरणोंको देखते हुए लाखोंमें एक बार भी ऐसी कल्पनाकी सम्भावना नहीं होती कि प्राणिमय जगत्की रचना आकस्मिक है।

दूसरा—प्राणियोंकी स्वप्रयोजन सिद्ध करनेकी बौद्धिक क्षमता ही किसी सर्वव्यापी चिच्छक्तिकी ओर संकेत करती है।

जीवन अथवा प्राण क्या वस्तु है, इसकी अभीतक कोई मनुष्य थाह नहीं लगा पाया है। न इसमें भार है, न इसकी कोई रूपरेखा है; फिर भी शक्ति इसमें है। वर्द्धन-शील जड़से चट्टानतक चटक जाती है। चेतनशक्तिने जल, स्थल और वायुपर विजय प्राप्त की है; उसने तत्त्वोंको अधीन करके उन्हें अपने मिश्रणसे बने हुए पदार्थोंमेंसे अलग-अलग होने और मिलकर फिर वही रूप धारण करने-को बाध्य किया है। महच्चेतन मूर्तिकार बनकर सभी जीव-धारियोंको रूप प्रदान करता है, कलाकार बनकर प्रत्येक पत्ते और प्रत्येक वृक्षकी कल्पनाको साकार करता है, प्रत्येक पुष्पमें रंग भरता है। चतुर संगीतज्ञकी भाँति प्रत्येक पक्षीको उसने प्रेम-गीत सिखाया है। यही चेतना फलों और मसालोंमें उनका सूक्ष्म स्वाद एवं गुलाबमें उसका सौरभ बनकर बैठी है। यही जल और कार्बोनिका अम्लको शर्करा तथा काष्ठमें परिणत कर देती है और ऐसा करते समय ओषजनकी सृष्टि करती है, जिससे प्राणिवर्गको प्राणवायु प्राप्त हो। अत्यन्त छोटे, दुर्निरीक्ष्य, पारदर्शी, गतिमान्, गोंदके घोलकी बूँदकी तरह, सूर्यसे शक्ति ग्रहण करनेवाले जीवनबीज (Protoplasm) की ओर जरा ध्यान दीजिये। यह अकेला कोष (cell) नीहारके सदृश पारदर्शी, बिन्दु-मात्र अपने उरमें चेतनाका बीज धारण किये रहता है। छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें इस चेतनाको वितरित करनेकी इसमें शक्ति वर्तमान है। इसकी शक्ति समस्त वनस्पतियों, पशुओं और मानवोंसे बढ़कर है; क्योंकि यह चेतनाका बीज है। प्रकृतिसे चेतनाकी सृष्टि नहीं हुई है। अग्निदग्ध पर्वत और क्षारहीन सागर चेतनसृष्टिके आवश्यक उपकरण नहीं जुटा सकते।

फिर चेतना कहाँसे आयी ?

तीसरा—पशु-पक्षियोंमें बुद्धिका होना अकाट्यरूपसे इस बातकी ओर संकेत करता है कि कोई ऐसा स्रष्टा है, जिसने सब प्रकारसे असहाय छोटे-छोटे प्राणियोंमें भी सहज बुद्धि रख दी है।

छोटी साल्मन (एक प्रकारकी विलायती मछली) वर्षों समुद्रमें रहकर अपनी ही नदीमें वापस आ जाती है और उसी किनारेको पकड़े हुए आगे बढ़ती है जिससे वह सहायक नदी मिलती है, जिसमें साल्मन पैदा हुई थी। कौन उसे इस तरह ठीक-ठीक वापस ले जाता है ? यदि आप उसे दूसरी सहायक नदीमें छोड़ दें तो उसे तुरंत पता लग जायगा कि वह गलत रास्तेपर है। वह नीचे उतरकर मुख्य नदीमें आयेगी और फिर अपनीवाली सहायक नदीमें जाकर ठीक स्थानपर पहुँच जायगी।

ईल नामक मछलीका चमत्कार समझना तो और भी कठिन है। ये विचित्र जीव अपने जीवनकी प्रौढ़ावस्थामें सभी स्थानोंके जलाशयों और नदियोंसे निकल-निकलकर बर्मूडाज़-द्वीपके पास सागरके एक गहरे दहमें जाते हैं। यूरोपकी ईलें सहस्रों मीलका रास्ता तय करके वहाँ पहुँचती हैं। वहीं वे सब बच्चे देकर मर जाती हैं। इन छोटे बच्चोंके पास सिवा इसके कि वे विजन जलराशिमें पड़े हैं और कुछ जाननेका कोई साधन देखनेमें तो नहीं आता। फिर भी वे वहाँसे लौटकर उन्हीं किनारोंपर आ लगते हैं, जहाँसे उनके माता-पिता चले थे। इतना ही नहीं, आगे बढ़ते हुए वे अपने पूर्वजोंवाली नदियों, झीलों और जलाशयोंमें भी जा पहुँचते हैं। इसलिये किसी भी जलाशयसे ईलें सदाके लिये लुप्त नहीं हो जातीं। पर अमेरिकाकी कोई भी ईल योरपमें नहीं मिलती और न योरपकी ईलें अमेरिकाके समुद्रोंमें पायी गयी हैं।

प्रकृतिकी ऐसी व्यवस्था है कि योरपकी गर्भिणी ईलें एक वर्ष बाद प्रौढ़ावस्थाको प्राप्त होती हैं; क्योंकि दहमें पहुँचनेके लिये उन्हें लंबा रास्ता समाप्त करना रहता है। [ योरप और अमेरिका दोनों ही स्थानोंसे वे वहाँ ठीक प्रजननकालपर एक साथ ही पहुँच जाती हैं। ] इस प्रकार यातायातका ज्ञान उनमें कहाँसे आता है ?

ततैया या बरैं छोटे झींगुरको पकड़कर पृथ्वीमें एक छेद करके उसमें डाल देती है और उसको ऐसी जगह डंक मारती है, जिससे वह मरता नहीं अपितु चेतनाशून्य होकर सुरक्षित भोजनके रूपमें पड़ा रहता है। अब ततैया अंडे देती है ताकि उसके बच्चे जब बाहर आयें तब इस सुरक्षित भोजनको, बिना उसकी जान लिये, धीरे-धीरे खाते रहें। मरे शरीरका मांस उनके लिये प्राणघातक सिद्ध होगा। बच्चोंको पैदा करके माँ ततैया तो उड़ जाती है और मर जाती है। वह अपने बच्चोंको कभी देखती नहीं। निश्चय ही सभी ततैयाएँ इस क्रियाको जीवनमें केवल एक बार और पहली ही बार ठीक-ठीक करती आ रही हैं, नहीं तो ततैयाओंकी जाति ही मिट जाती। ऐसी रहस्यमयी क्रियापद्धतिके बोधको परिस्थितियोंके प्रभावसे उत्पन्न कहकर नहीं टाला जा सकता। अवश्य ही यह किसीकी देन है।

चौथा—मनुष्यमें पशु-पक्षियोंकी सहजा बुद्धिसे भी विशेष एक वस्तु विवेकशक्ति है।

दसतक गिननेकी अथवा दसका केवल अर्थ ही समझनेकी अपनी योग्यताका कोई और जीव कोई उल्लेख नहीं छोड़ गया है। यदि सहजा बुद्धि बाँसुरीके केवल एक स्वरके तुल्य है, जो मीठी है पर सीमित भी है, तो मानवमस्तिष्कमें संगीतके सभी वाद्य-यन्त्रोंके समस्त सुरोंका संग्रह है। इस चौथे कारणपर अधिक विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। मानवीय बुद्धिको धन्यवाद है कि हम इतना तो विचार कर ही सकते हैं कि आज हम जो कुछ हैं, वह समष्टि बुद्धिका ही एक कण प्राप्त करके हैं।

पाँचवाँ—आज हम जीवमात्रके स्वरूप-रहस्यको खोल देनेवाले उस तत्त्वको जानते हैं, जिसका पता डार्विनको नहीं था। वह ( रजो-वीर्यात्मक ) द्विविध जननपरमाणुओं ( Genes ) का चमत्कार है।

ये जननपरमाणु इतने छोटे होते हैं कि यदि सारे जीवित मनुष्योंके स्वरूप-विधायक समस्त जननपरमाणुओंको एकत्र किया जाय तो उँगलीकी एक पोर-जितने चौड़े और गहरे छेदको भी पूरा नहीं भर सकेंगे। फिर भी ये अत्यन्त छोटे जननपरमाणु और इनके सहायक जीवन-बीजमध्यस्थ रञ्जनशील तन्तु ( Chromosomes ) प्रत्येक जीवित कोषमें वर्तमान रहते हैं और ये ही सारे मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियोंके स्वभाव-स्वरूपकी कुंजी हैं। दो अरब मनुष्योंके स्वभाव-स्वरूपको एकत्रित करनेके लिये उँगलीकी पोर-बराबर छेद कितना छोटा स्थान है ! पर ये बातें हैं निर्विवाद सत्य। भला, ये जीवन-परमाणु कैसे असंख्य पूर्वजोंकी सामान्य चारित्र्यगत छापको इतने अत्यन्ताल्प स्थानमें सुरक्षित रखते हैं ? वास्तवमें विकास यहीं—इस कोषसे ही आरम्भ होता है, जिसमें जीवन-परमाणु रहते और बढ़ते हैं। पृथ्वीके समस्त प्राणियोंके स्वरूप-विकासपर इन दुर्निरीक्ष्य जीवनपरमाणुओंका एकच्छत्र शासन किसी ऐसी अद्भुत चातुरी और कार्यपटुताका उदाहरण है, जिसका उद्गम कोई सर्वकारण-कारण ज्ञानराशि ही हो सकती है। किसी अन्य कल्पनासे यहाँ काम चलता नहीं।

छठा—प्रकृतिकी विलक्षण व्यवस्थितता हमें यह समझनेके लिये बाध्य करती है कि कोई अनन्त ज्ञानराशि ही इतनी दूरदर्शिता और प्रबन्धपटुतासे सृजन-कार्यका सम्पादन कर सकती है।

कई वर्षों पहले आस्ट्रेलियामें बाड़के लिये एक जातिकी नागफनी लगायी गयी। आस्ट्रेलियामें इसके नाशक कृमि-कीट थे नहीं, इसलिये यह नागफनी खूब बढ़ चली। इसका भयंकर विस्तार इतना बढ़ने लगा कि कुछ ही समयमें इसने इंग्लैंडके क्षेत्रफलके बराबर पृथ्वी छेंक ली। नगरों और गाँवोंमें भी यह इतनी अधिक हो गयी कि वहाँके रहनेवालोंको अलग हट जाना पड़ा। उनके खेतोंको यह नष्ट करती चली जा रही थी। इससे त्राण पानेका उपाय खोजनेमें कृमि-कीट-शास्त्रविशारदोंने संसार छान डाला। अन्तमें उन्होंने एक कीड़ा खोज निकाला जो केवल नागफनीपर ही अवलम्बित रहता है। यह सिवा उसके और कुछ नहीं खाता। इसका वंश भी खूब जल्दी बढ़ता है तथा आस्ट्रेलियामें इसको हानि पहुँचानेवाला अन्य कोई जीव नहीं था। इसलिये शीघ्र ही पशुजगत्ने वनस्पतिपर विजय पायी। अब नागफनीकी बढ़ती हुई सेना पीछे हट गयी है। साथ-ही-साथ कुछको छोड़कर शेष कीड़े भी लुप्त हो गये हैं। पर जितने बचे हैं, वे नागफनीको सदा नियन्त्रणमें रखनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकारके नियन्त्रण और नियमनकी व्यवस्था संसारमें सर्वत्र देखनेको मिलती है। अति शीघ्र वंश-विस्तार करनेवाले कीट-पतंगोंका भला, क्यों नहीं पृथ्वीपर सर्वाधिक प्रभुत्व हो गया।

इसका कारण यह है कि उनके पास मनुष्यकी भाँति फुफ्फुस-यन्त्र नहीं है। वे नलिकाओंद्वारा साँस लेते हैं। परंतु जब वे बढ़ते हैं तो ये नलिकाएँ उनकी शरीरवृद्धिके अनुपातसे नहीं बढ़तीं। इसीलिये कोई कीट-पतंग वृहत्काय नहीं हुआ। उनके शारीरिक विकासकी यह रुकावट उनको नियन्त्रणमें रखती है। यदि यह नियन्त्रण न होता तो मनुष्यका आज अस्तित्व ही न मिलता। सिंहके समान शरीरवाली एक ततैयासे भेंट होनेकी जरा कल्पना कीजिये।

सातवाँ—मनुष्यके द्वारा भगवान्‌की धारणा सम्भव है, यह बात ही एक अद्वितीय प्रमाण है।

भगवद्धारणा मनुष्यकी एक दिव्य मानसिक प्रक्रियासे सम्भव है। यह मानसिक प्रक्रिया संसारके इतर प्राणियोंको उपलब्ध नहीं है। इसका नाम है ध्यान। इसके द्वारा मनुष्य और केवल मनुष्य ही अदृश्य वस्तुओंका साक्षी बन सकता है। ध्यानद्वारा दृष्टिगोचर होनेवाले दृश्योंका विस्तार निस्सीम है। मनुष्यका परिपक्व ध्यान जब एक आध्यात्मिक वस्तु बन जाती है तब वह सबमें उपयोगिता और सप्रयोजनताको देख सकता है, इस महान् सत्यका दर्शन कर सकता है कि भगवान् सर्वत्र और सबमें हैं और सबसे समीप तो हमारे अपने हृदयमें ही वर्तमान हैं।

ध्यानकी दृष्टिसे भी प्रार्थना* की ये पंक्तियाँ नितान्त सत्य हैं—

आकाश-पटलपर अङ्कित है प्रभुका गुण-गौरव-यशोगान।
अम्बरके उरमें चमक रहा उनके करका कौशल महान॥

---

# जो नहीं था, वह मर गया

( लेखक—श्रीप्रतापसेठजी )

'मैं हूँ, इसके लिये तो किसी भी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है; परंतु मेरे शरीर है या नहीं—यह विचारणीय है। यदि शरीर होता, तो जैसे मैं आत्मस्वरूप हूँ, वैसे ही शरीर भी आत्मस्वरूप होना चाहिये था और फिर उसको भी प्रमाणकी आवश्यकता न होती; किंतु अपने लिये जैसे अन्य पदार्थ विषय होते हैं, वैसे ही अपना शरीर भी विषय होता है। वह जब हमारी बुद्धिका विषय होता है, तभी उसमें विषयता आती है और उसकी मृत्यु होती है। किंतु बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर—ये द्रष्टास्वरूप हों तो इनका नाश कभी नहीं होता। नाश वही होता है, जो उनका विषय होता है। यदि द्रष्टास्वरूप बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीरका नाश होता तो अपनेको नाश समझता ही नहीं।

बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर आदि जो द्रष्टारूप हैं, उनपर बुद्धिके द्वारा लगायी हुई विषयोंकी सापेक्षता यदि पूर्णतया निकाल दी जाय तो वे आत्मस्वरूप ही हैं। उनका नाश कभी होता ही नहीं। उनका नाश होता तो वे अपनेको कभी समझते ही नहीं और समझनेवालेका न होनेसे नाशका कोई स्वरूप ही नहीं रहता। नाश जिनका होना समझा जाता है उन बुद्धि आदि इन्द्रियोंका न होकर उनके रूप-रसादि विषयोंका ही होता है।

अपनी किसी भी क्रियाके होनेके समय तो वह अपना विषय नहीं रहती; क्योंकि विषय होनेके लिये जो पदार्थ विषय होता है, वह पहले होना चाहिये। अतः वैसी क्रिया भी विषय होनेके पहले होनी चाहिये। परंतु विषय होनेके पहले किसी क्रियाका स्वरूप और उसका अर्थ नहीं रहता, यानी क्रिया आत्मस्वरूप ही रहती है। इसका भाव यह है कि किसी भी वस्तुको रूप और अर्थकी प्राप्ति होती है तो वह बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होती है। अतः मृत्युको भी जो मृत्युका स्वरूप और अर्थ प्राप्त होता है, वह भी बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होता है। अर्थात् जबतक बुद्धि है, तभीतक मृत्यु है। बुद्धिके अतिरिक्त मृत्यु या जगत्‌की भावाभावरूपी कोई भी वस्तु मूलतः नहीं है। सब परमात्मस्वरूप ही है। परमात्माको ही बुद्धि गुण लगाकर जगत् बनाती है और हमारी मृत्यु भी उसीके अंदरकी एक चीज है।

अपने जन्मके समय 'मैं जन्मा' ऐसा ज्ञान अपनेको नहीं होता, वह पीछे उत्पन्न होता है। इसीसे यह सिद्ध है कि

---

* बाइबिलके प्रार्थना-खण्डकी १९वीं प्रार्थनाकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

यह ज्ञान झूठा है ? जहाँ जन्मका ही ज्ञान नहीं, वहाँ जन्मसापेक्ष मृत्युको कैसे सत्य माना जाय ?

हमको जो भी ज्ञान होता है, वह सब वस्तु या क्रियाके बादमें ही होता है। ज्ञान होनेके पहले वस्तु या क्रिया होनी चाहिये; तभी हम कह सकते हैं कि अमुक बातका ज्ञान हुआ। यानी ज्ञानका स्वरूप ही यह है कि वह पीछेसे होता है, इसलिये वह अनुभवकी तरह सत्य नहीं होता, अतएव शरीरको यदि बुद्धिने विषय नहीं किया तो वह भी परमात्मस्वरूप ही है। जैसे जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उनको यदि विषय नहीं किया जाय तो वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं, वैसे ही हमारा शरीर और हमारे शरीरकी समस्त क्रियाएँ भी यदि उनको बुद्धिने विषय नहीं किया है—सब परमात्मस्वरूप ही हैं। जगत्का, हमारे शरीरका और उसकी सब क्रियाओंका स्वरूप विषयता ही है और यह विषयता बुद्धिकी अपेक्षासे है। इस बुद्धिको ही माया कहते हैं। यही सब जगत्की कर्त्री है। जगत्को, अपने शरीरको और सब क्रियाओंको विषय नहीं किया जायगा तो उससे 'मैं' 'तू' का भेद निकल जायगा और एक परमात्मा ही रह जायगा।

'मैं' स्वयं तो 'मैं' हूँ, परंतु दूसरेको यही 'मैं' तू दीखता है। काशीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परंतु बद्रीनाथको वह 'तू' दीखता है। ऐसे ही बद्रीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परंतु काशीनाथको बद्रीनाथ 'तू' दीखता है। यानी 'मैं' को जब हम बुद्धिसे जानने जाते हैं, तब वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दूसरा परोक्ष पदार्थ बन जाता है। अपने शरीरकी भी यही बात है। उसको भी हम जब विषय करेंगे, तभी उस विषय होनेवाले शरीरकी मृत्यु होगी। मृत्यु हमारा विषय होनेके कारण वह 'मैं' को कभी नहीं प्राप्त होती, वह विषय होनेवाले 'तू' को ही प्राप्त होती है और वह मृत्यु भी 'तू' की हो या 'मैं' की, यह होनी है विचारमें ही। प्रत्यक्ष मृत्यु कभी किसीको आती ही नहीं। विषय करनेमें पदार्थ बदल जाता है, 'मैं' का 'तू' हो जाता है। परमात्माका जगत् बन जाता है। यह सब बुद्धिरूपी मायाका ही कर्तृत्व है। इसी 'तू' के अनेक भेद होते हैं। सर्वभक्षक कालादि भी इस बुद्धिरूपी मायाकी ही संतति हैं। निरपेक्ष वर्तमानको तो बुद्धि पकड़ ही नहीं सकती। निरपेक्ष वर्तमान तो परमात्मास्वरूप ही है; उसको यदि बुद्धिमें या ज्ञानमें लानेका प्रयत्न किया जायगा तो वह भी भूतकाल बन जायगा; क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान होगा, वह वस्तु ज्ञान होनेके पूर्व होनी चाहिये, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है। परंतु वह ज्ञान विपर्यस्त ही होता है; क्योंकि वह वर्तमानमें नहीं होता। अपराध बननेके समय जो उपस्थित न हो, उसकी गवाही कैसे सत्य मानी जाय।

बुद्धिके विना तो कालको भी कालका स्वरूप ही प्राप्त नहीं रहता। बुद्धिके विना काल परमात्मस्वरूप ही है। जो पदार्थ बुद्धिमें आनेवाले हैं, वे सब कालघटित ही हैं; उन्हींको जगत् कहते हैं। यह जगत् बुद्धिरूपी मायाका ही बनाया हुआ है।

यदि यह भेद 'मैं' में यानी आत्मामें है, ऐसा मानें तो फिर वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दृश्य जड पदार्थ बन जायगा। 'मैं' स्वयं तो 'केवल और स्वतःसिद्ध' पदार्थ है और जो 'केवल और स्वतःसिद्ध' होता है, उसका नाश कभी नहीं होता; क्योंकि उसमें नाशके अवयवभूत परमाणु नहीं होते। इसलिये आत्मा कभी मरता नहीं और जो मरता है, वह काशीनाथका बद्रीनाथ और बद्रीनाथका काशीनाथ मरता है। यानी काशीनाथको जो बद्रीनाथ 'तू' दीखता है और बद्रीनाथको जो काशीनाथ 'तू' दीखता है। वह 'तू' ही मरता है। परंतु तू कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा कहना पड़ता है। स्वयं काशीनाथ और बद्रीनाथ तो 'केवलस्वरूप, स्वतःसिद्ध और अद्वितीय पदार्थ' हैं। केवलस्वरूपके लिये मरण कहाँ ? जो मरते हैं, वे सब 'तू' स्वरूप ही मरते हैं। परंतु 'तू' कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा ही कहना उचित है।

# श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

( लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी )

[ गतवर्ष पृष्ठ १३८५ से आगे ]

"भावमय श्रीभरतेलाल 'श्रीराम सीय शयन अवनि'का दर्शन करने गये हैं।" यह मङ्गलसम्पन्न संवाद श्रीराम-प्रेम-रस-रसिक नागरिकोंमें पूर्णरूपेण व्याप्त हो गया। वे भी अपनी 'नयन मन जरनि'को विनष्ट करनेके लिये उत्कण्ठित हो गये। वे अपनी गतिका अवरोध करनेमें असमर्थ हो गये—आर्त होकर दौड़ पड़े श्रीभरतका अनुगमन करनेके लिये। उनका एकमात्र लक्ष्य था—'श्रीराम सीय विश्रामस्थल।'

वे उस परमपावनी स्थलीको निहार रहे हैं। अवलोकन करनेके अनन्तर सस्नेह परिक्रमा करके सनम्र अभिवादन करनेमें प्रवृत्त हो गये। उस कठिन 'दर्भ-साथरी'का अवलोकन करनेके पश्चात् उनके वियोगी मनमें 'अवधराज-प्रासाद-स्थित श्रीराम-सीय-शयनागार'की स्मृति सबल हो गयी और वे सोचने लगे—कितना मनोरम शयनागार था—शयनके लिये मञ्जुल पलंग, प्रकाशके लिये शीतल मणिदीप और दुग्धफेनकी भाँति सुकोमल, सुचिक्कण और विशद वस्त्र, उपधान और गद्दियाँ—ये सभी सुसाधन समुपस्थित थे वहाँ। और यहाँ......। कितना विशाल वैषम्य है यहाँ और वहाँके शयनकक्षमें। हमारे श्रीराघवकी सुकोमल त्वचाको कितने कष्टप्रद हुए होंगे ये दर्भसमूह! प्रभुने यहाँ किस प्रकार रात्रि बितायी होगी! इस कल्पनामात्रसे उनका वदन विवर्ण हो गया। उनके मनको करुणाने अधिकृत कर लिया। नेत्रकोण अम्बुसंयुक्त हो गये। फिर वे असहिष्णु होकर श्रीकैकेयीको दोष देने लगे। वाम विधाताको भी निर्दोष समझना अनुचित था उनकी भावमयी दृष्टिमें। विभिन्न-विभिन्न भावना एवं विचारके नागरिक, विभिन्न-विभिन्न व्यक्तियोंके व्यक्तित्वकी श्लाघा करते हुए अपनेको निन्द्य समझने लगे। परमपावनी भक्ति-भागीरथीमें सुमज्जन करनेवाले नागरिक भैया भरतको साधुवाद देने लगे—'धन्य हो स्नेहमय! आपकी ही पुनीत प्रीतिके कारण हम पुनः श्रीराम-दर्शनका मनोहर लाभ ले सकेंगे। अन्यथा कृपालु श्रीरामभद्रने तो तमसा नदीके तटपर हमारे दैहिक कष्टका अनुभव करके हमारा परित्याग कर ही दिया था।' ज्ञानार्णवमें डुबकियाँ लगानेवाला जन-समुदाय चक्रवर्ती श्रीदशरथजीके सत्य स्नेहकी प्रशंसा करने लगा। 'धन्य हो हमारे दिवंगत सम्राट्! कितना अविकल स्नेह था श्रीरामके पावन पदोंमें आपका। श्री-रामभद्रका वियोग होते ही आपके प्राण पखेरू हो गये—

**जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥**

'किंतु हम तो आजतक जीवित हैं श्रीरामसे वियुक्त होकर। सत्यस्नेही! हम आपका अनुसरण करनेमें असमर्थ ही रहे।' कर्मठ नागरिक श्रीगुहके परम पुनीत आत्मनिवेदनकी सराहना करते हुए उनकी अपेक्षा अपनेको निन्द्य समझने लगे। इसी प्रकार सम्पूर्ण निशा व्यतीत हो गयी। मनकी कल्पनाएँ समाप्त न हो सकीं। श्रीरामविरहदग्ध नागरिक निद्रादेवीका आवाहन करनेमें असमर्थ ही रहे—सो न सके।

भगवान् भुवनभास्करकी अरुणिमा आखण्डल-दिशाके पूत वक्षस्पर अपनी आभा बिखेरनेमें संलग्न हो गयी। श्रीराघव-दर्शनाभिलाषी जनोंकी अभिलाषा वृद्धिंगत हो गयी। चार घटिकामें ही सम्पूर्ण समाज देवनदीके उस पार हो गया। यह श्रीनिषादके परिश्रम और सुप्रबन्धका परिणाम था। अब आइये, श्रीभरतलालकी एक अनुराग-मयी झाँकीका दर्शन करें।

प्रात क्रिया करि मातु पद बंदि गुरहि सिरु नाइ ।
आगें किए निषाद गन दीन्हेउ कटकु चलाइ ॥

कियउ निषादनाथ अगुआईं । मातु पालकीं सकल चलाईं ॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा । बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू । सुमिरे लखन सहित सिय रामू ॥
गवने भरत पयादेहिं पाए । कोतल संग जाहिं डोरिआए ॥

प्रात:कालीन शौच, स्नान, संध्या-वन्दनादि दैनिक कर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीभरतने क्रमशः सम्मान्या माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ श्रीवशिष्ठजीके चरणोंकी वन्दना की। वन्यपथप्रदर्शक निषादगणको आगे करके सेनाको प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी। तदनन्तर श्रीनिषादराज स्वयं आगे चले। इन्हींके संरक्षणमें माताओंकी शिबिकाओंने भी प्रयाण किया। श्रीभरतने लघुबन्धु श्रीशत्रुघ्नकुमारको निषादका सहगामी बना दिया। 'श्रीशत्रुघ्नको भी श्रीभरतलाल आज अपने सहवासमें नहीं ले रहे हैं' यह एक विशिष्ट विषय है। भूसुर-वृन्दको सहगामी बनाकर श्रीगुरुदेवने भी प्रस्थान किया। सम्पूर्ण समाजके प्रस्थान कर लेनेपर परम पवित्रसलिला श्रीसुरसरिताकी वन्दना करके, सानुज श्रीसीतारामका मङ्गलमय स्मरण करके, प्रेममय श्रीभरतलाल भी गमन करनेमें प्रवृत्त हुए; किंतु और लोगोंकी गति-विधिमें और इनकी गति-विधिमें भूमि-आकाशका अन्तर है। अन्य समस्त जन-समुदाय वाहनोंपर सवार है और ये 'पयादेहिं पाँएँ' हैं। अश्व लेकर सुसेवक साथमें चल रहे हैं और सोच रहे हैं—अभी हमारे स्वामीकी पैदल ही चलनेकी इच्छा है। कुछ दूर चलकर अवश्य ही घोड़ेपर सवार हो जायँगे; परंतु श्रीभरतकी इस पैदलयात्राका क्या रहस्य है, आगे चलकर स्वयमेव ज्ञात हो जायगा।

प्रस्तुत यात्रासम्बन्धी श्रीभरतलालकी गतिविधिमें क्रमभङ्ग है। महामहिम श्रीभरतलालकी इस यात्राके गमन-क्रमका भावपूर्ण परिवर्तन उनकी परमोज्ज्वलस्नेहमहिमाकी ओर सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करनेके हेतु हमारे मन और मस्तिष्कको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। आइये, उस सुमधुर स्नेह-सुधासागरमें हम अपने-अपने सु-मनको सुप्रवृत्त करानेका प्रयत्न करें।

आज श्रीभरतलालकी स्नेह एवं त्यागसे युक्त यात्राका श्रीगणेश—आदि दिवस है। 'श्रीदशरथलालित राम और श्रीकौसल्यापालिता सुकुमारी श्रीमैथिली काननके कठिन कण्टकाकीर्ण कठोर पथमें होंगे' इस भावमय विचारके कारण भावुक श्रीभरतलाल वाहनपर सवार न हो सके। 'भरत अनुगामी' श्रीशत्रुघ्नकुमार तो अनुगामी ही ठहरे।

बन सिय राम समुझि मन माहीं । सानुज भरत पयादेहिं जाहीं ॥

श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका प्रभाव पीछे आनेवाले नागरिकोंपर पड़ा—भलीभाँति पड़ा। पड़ना भी चाहिये था; क्योंकि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' उनकी इस भावसंवलित क्रियाका अवलोकन करके प्रत्येक नागरिकमें अनुरागमयी भावनाकी प्रबलता हो गयी। उनका पवित्र मन अनुरागग्रस्त हो गया। फलतः अश्वारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे। धन्य हो भैया भरतलाल ! धन्य है आपका स्नेह ! धन्य है आपकी स्नेह-संयुक्ता क्रिया, जिसका इतना महान् प्रभाव है कि साथ चलनेवाले लोग अनायास ही अनुकरण करनेके लिये मचल पड़े।

देखि सनेह लोग अनुरागे । उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥

अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी और सानुज श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें पुत्रवत्सला राजमाता श्रीकौसल्या असमर्थ हो गयीं। वे शीघ्र ही चल पड़ीं अपने विनयावनत सुपुत्र श्रीभरतलालकी ओर। उन्होंने अत्यन्त संनिकट पहुँचकर शिबिकाको रखवा दिया और बड़ी ही कोमल वाणीसे बोलीं।

जाइ समीप राखि निज डोली । राममातु मृदु बानी बोली ॥

कविकुलकमलदिवाकर पूज्यचरण श्रीगोस्वामीजीने राजमाताको लक्ष्य करके जिस शब्दका प्रयोग किया है,

वह शब्द कितना भावसंयुक्त है ! वह शब्द कवि और माता कौशल्या दोनोंके गौरवका ही सूचक नहीं है, अपितु दोनोंके स्वरूपगत गाम्भीर्यका भी प्रकाशक है । 'राममातु' इस शब्दका अर्थ-गाम्भीर्य विचारकर मानसावगाहियोंका हृदय आनन्दसमुद्रमें हिलोरें लेने लगता है । उनका मस्तक स्वयमेव विनम्र हो जाता है पूज्य महाकविके पूत पादपद्मोंमें ! अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी करुण दशा देखनेमें असमर्थ हो जाना 'राममातु'का ही कार्य है । यह शब्द महाप्रभु श्रीरामकी महत्ताकी ओर दृष्टिपात करनेके लिये भी हमें लुब्ध कर रहा है ।

'पितुराज्ञा गरीयसी' समझकर श्रीराम वनिता-बंधु-समेत रथारूढ़ हो गये । श्रेष्ठ सूत सुमंत सारथ्य कर रहे हैं । रथकी गमनक्रिया आरम्भ हो गयी । रामस्नेही प्रजा भी व्याकुल होकर दौड़ पड़ी । जनसमुदाय रघुवर-विरहाग्नि सहन करनेमें असमर्थ हो गया । चरणोंके साथ-साथ मन भी तीव्र विचारधारामें प्रवाहित हो चला । विचार-धारा शान्त हो गयी—विचार सुनिश्चित हो गया ।

..................। राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं ॥
जहँ राम तहँ सबुइ समाजू । बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू ॥

इस विचारके सुदृढ़ होते ही अवशिष्ट ममताओंके बन्धन भी शिथिल हो गये । फिर तो—'बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ ।' किंतु श्रीरामभद्र अपनी प्रिय प्रजाका यह करुण-दृश्य न देख सके ।

करुनामय रघुनाथ गोसाईं । बेगि पाइअहिं पीर पराई ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए । बहु बिधि राम लोग समुझाए ॥
किए धरम उपदेस घनेरे । लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे ॥
सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई । असमंजस बस भे रघुराई ॥

देखा आपने—यह है, श्रीरामभद्रकी कृपालुता ! इसीलिये महाकविने मैयाको भी 'राममातु' ही कहना विशेष उपयुक्त समझा । अस्तु,

तात चढ़हु रथ बलि महतारी । होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू । सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥

'मेरे लाल ! मैया बलैया लेती है । तुम रथपर आरूढ़ हो लो । अन्यथा तुम्हारा यह प्रिय परिवार महान् क्लेश प्राप्त करेगा । यद्यपि स्नेहका उत्कर्ष पैदल चलनेमें ही है, तथापि सम्पूर्ण समाज श्रीरामविरहसे अत्यन्त शोकसे क्षीणकाय हो गया है । मार्गमें पैदल चलनेयोग्य इनका शरीर नहीं रहा है । तुम्हारे पैदल चलनेपर इसमेंका एक व्यक्ति भी सवारीपर नहीं चलेगा । ध्वनितः 'बचन रचना अति नागर' श्रीरामकी मैयाने यह भी कह दिया—यदि तू पैदल चलेगा तो मैं भी शिविकाका परित्याग कर दूँगी ।'

कारणरहित कृपालु श्रीरामकी माँकी वाणीमें कितनी विशाल आत्मीयता है, कितनी मधुरिमा है ! राममातु-की बानी अनुराग-सानी, साथ ही कितनी ओजस्विनी है । उस वाणीको श्रवण करनेके पश्चात् श्रीभरतको बिना 'ननु-न-च' किये ही—अविलम्ब अपने निश्चयमें परिवर्तन करना पड़ा ।

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई । रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई ॥

वे स्नेहमयी मैयाकी आज्ञा शिरोधारण करके उनके पावन पादपद्मोंमें प्रणत हो गये । दोनों भाई रथारूढ़ होकर आगे चले । मन-की-मनमें ही रह गयी ।

हाँ, तो मैं निवेदन कर रहा था कि प्रस्तुत प्रसङ्गमें श्रीभरतलालके गमन-क्रमका परिवर्तन बड़ा ही भावपूर्ण है । आज श्रीभरतने सोचा—"यहाँतक रथपर चढ़कर आना विशेष जघन्य कृत्य नहीं था । यहाँतक तो मेरे आराध्य भी रथपर ही चढ़कर आये थे, किंतु शृङ्गवेरपुरमें ही सत्यव्रती श्रीरामने मस्तकपर जटा निर्मित करके 'तापसबेष बिसेष उदासी' वेषकी रचना की थी । श्रीसुमंतको भी साथमें लेना अनुचित समझा था उन्होंने । इस स्थलसे मेरे जीवनाधार श्रीराघवेन्द्र देवी सीता और भाग्यवान् लखनलालके साथ 'बिनु पानहिन्ह पयादेहिं पाएं' गये हैं । यदि मैं विगत दिवसकी

भाँति ही आज भी रथपर सवार होता हूँ तो 'मिटै भगति पथ होइ अनीती' यह सोचकर भावुक भैया भरतलालने आज अपना अनुगमन करनेके लिये एक व्यक्तिको भी अपने पीछे नहीं छोड़ा, सहवासी श्रीशत्रुघ्नकुमारको भी नहीं। सम्पूर्ण समाजको प्रस्थान करा देनेके पश्चात् स्वयं चल रहे हैं।

'श्रीभरत आज पैदल गमन कर रहे हैं' इस समाचारका अंशमात्र भी लोग मार्गमें कर्णगत न कर सके। करते भी कैसे ? त्रैलोक्यकी समस्त क्रियाएँ 'उरप्रेरक' की प्रेरणासे ही जो होती हैं। उसकी सत्ताके बिना तो पीपलका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो फिर—प्राणाधिक श्रीभरतकी परम पवित्र भावनामयी अभिलाषाको पूर्ण करनेमें 'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन' को भी चाहे अनिच्छाहीसे दिया हो—साथ देना ही पड़ा।

अपने सुकुमार स्वामीकी इस दुःखद यात्राका अवलोकन करनेमें सुसेवक असमर्थ हो गये। उनके धैर्यका बाँध टूट गया। वे लगे प्रार्थना करने—'स्वामी! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमिमें गमन करने योग्य नहीं हैं। नाथ! इन घोड़ोंके साथ-साथ हम सेवकोंको भी सनाथ करें—रथारूढ हो जायँ।' इन विनयावनत वचनोंकी उन्होंने एक बार नहीं, कई बार पुनरावृत्ति की।

**कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥**

किंतु प्रेमव्रती श्रीभरत अपने प्रेमपथपर अटल ही रहे। उन्होंने सेवकोंके वचनोंका उत्तर देते हुए जिन वाक्योंका अपने श्रीमुखसे उच्चारण किया, उन वाक्योंका आनन्द श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही लें।

**राम पयादेहिं पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥**
**सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥**

'मेरे उपास्यदेव शिरीष-पुष्पाधिक सुकोमल श्रीराघवेन्द्र सरकार इसी कठोर मार्गसे पैदल ही गये हैं। उन परम सुकुमार महाप्रभु श्रीरामके लिये किसीने भी रथ-गज-अश्वोंकी रचना नहीं की और मेरे लिये—सेवकके लिये—उनके अनुचरके लिये रथ-गज-अश्वसमूहोंका निर्माण किया गया है। भैया! उचित तो यह है कि इस पथपर—श्रीराम-चरण-पावन पथपर मेरा मस्तक पड़े; क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंमें कठिनतम धर्म तो सेवक-धर्म ही है और मैं हूँ श्रीराघवेन्द्र सरकारके पावन पादपद्मोंका एक भृत्य।'

अहा! कितने भावपूर्ण ये वचन हैं। एक-एक वाक्य श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत है। इन वचनोंमें सेवकोंके लिये कितना मधुर शिक्षण है। इन ओजस्वी वचनोंको सुनकर सेवकगण निरुत्तर होकर मौन हो गये। मौन ही क्यों, वे आत्मग्लानिका भी विशेषानुभव करने लगे।

**देखि भरत गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक गन गरहिं गलानी॥**

आज अवधवासी जनसमुदायके साथ तीर्थराज प्रयाग भी भक्तशिरोमणि श्रीभरतकी प्रतीक्षामें आतुर थे। श्रीभरतलाल भी सानुराग 'श्रीसीताराम श्रीसीताराम' उच्चारण करते हुए तीसरे पहर प्रयागमें प्रविष्ट हुए। जनसमुदायने श्रीभरतके पैदल चलकर आनेका संवाद सुना। सम्पूर्ण समाज दुःखकी छायासे आच्छन्न हो गया।

**भरत पयादेहिं आए आजू। भएउ दुखित सुनि सकल समाजू॥**

आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतलालके मनपर तो नहीं, किंतु पैरोंमें तो छाले डाल ही दिये।

**झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥**

# मूर्खता

[ कहानी ]

( लेखक—श्री'चक्र' )

'सबका मूल्य है।' नाम देना उत्तम नहीं; क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। किसीकी आलोचना नहीं कर रहे थे वे, सहज स्वभाववश अपने सरल विश्वासकी बात व्यक्त कर रहे थे। 'यह दूसरी बात कि किसीका मूल्य बहुत कम है और किसीका बहुत अधिक; किंतु सबको क्रय किया जा सकता है!'

'यद्यपि यह अर्थप्रधान युग है, तथापि सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है।' मैंने प्रतिवाद किया। 'ऐसे लोगोंकी संख्या पर्याप्त अधिक है, जो किसी भी मूल्यपर क्रय नहीं किये जा सकते। अपने ही यहाँ........'

'ऐसे कुछ ही अपवाद निकलेंगे।' बात यह है कि उनके सम्मुख कुछ नाम रख दिये गये थे और उन नामोंकी महत्ता अस्वीकार करनेका उपाय नहीं था।

'एक सीमातक अर्थ आवश्यक होता है।' मैंने स्पष्ट किया। 'मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि बहुत बड़ी सीमातक; किंतु एक सीमातक ही। व्यक्तिके व्यक्तित्व-को वह तभी क्रय कर सकता है, जब व्यक्ति मूर्ख हो। अपनेको मूर्ख बनाये बिना कोई अर्थके हाथों अपनेको सौंप नहीं सकता।'

'बड़े-बड़े विद्वान्, सुप्रख्यात साधु और महान् लेखक........' वे प्रसिद्ध नामोंकी पूरी पंक्ति बोल गये।

'मैंने कितने बीज चुने हैं!' बड़े उल्लाससे एक बच्ची पास आ गयी। उसकी मुट्ठीमें चिरमिटीके लाल-लाल चमकते सुन्दर बीज थे।

'चल, खेल अभी!' बच्ची उन्हींकी थी, उन्होंने डाँट दिया। उसके भोले मुखपर उदासी आ गयी।

'बड़े सुन्दर बीज हैं तुम्हारे, मैं दो ले लूँ?' मैंने इसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया।

'नहीं।' मुट्ठी कसकर बाँध ली बच्चीने।

'तुम छोटे भैयाको ले आओ तो तुम्हें और बीज तोड़ दूँगा।' मैंने प्रलोभन दिया, क्योंकि मेरे मित्र उसे डाँटने जा रहे थे।

'पहले तोड़ दीजिये।' बच्चीके आग्रहमें बल नहीं था। बीज मिलते हों तो वह छोटे भाईको ले आयेगी। केवल तनिक पक्का आश्वासन अपेक्षित था। वह आश्वासन उसे मिल गया और वह दौड़ गयी छोटे भाईको ले आने।

'वह इसके केश नोचेगा, इससे झगड़ेगा और यह रो जायगी।' मैंने मित्रकी ओर देखा। बच्ची होनेपर भी इस कन्याका अपने छोटे भाईसे इतना स्नेह है कि उसे मार नहीं पाती, उसके द्वारा पिटनेपर भी। माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्यार है। बच्चा अकारण भी रो उठे तो बालिका डाँटी जायगी।

उसका अबोध हृदय इस भयको अनुभव करने लगा है। हो सकता है, इसी भयसे छोटे भाईका ऊधम वह सह लेती हो—'बीजोंका क्या करेगी यह? ये बीज इसके क्या काम आयेंगे?'

'थोड़ी देर खेलेगी, प्रसन्न होगी और फेंक देगी!' मित्रने साधारण ढंगसे कहा।

'उसका अवसर भी अब नहीं आना है।' बात सच थी, उसका छोटा भाई उसके पासके बीज भी छीन लेगा और झगड़ेगा ऊपरसे।

'बच्चोंमें इतनी समझ कहाँ होती है।' मित्रका ध्यान उस बातपर नहीं था, जो उन्होंने प्रारम्भ की थी।

'एक समय था, बहुत वर्षोंका लंबा समय था वह, जब मेरे पास कभी दो-चार दिनको दस रुपये होते थे।'

मेरी बात विशेष नहीं लगनी चाहिये। भारतके अधिकांश ग्रामीणोंकी स्थिति यही है और भारतकी जन-संख्याका बड़ा भाग ग्रामोंमें रहता है। 'उन दिनों सनक थी—रुपया कैसे आये, इसके भाँति-भाँतिके उपाय सोचता रहता था। अपने आलस्यसे उनमेंसे कोई काममें नहीं आ सका—यह दूसरी बात।'

'अच्छा, तो आप कहानी सुनाने लगे हैं।' मेरे मित्र समझते हैं कि कहानीलेखक सत्य भी कहे तो वह होती कहानी ही है।

'उन दिनों एक साधु मिल गये थे। वे कहते थे कि उन्हें स्वर्ण बनाना आता है।' मैंने मित्रका प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि घटना सत्य हो या कल्पित—उसमें समर्थित सत्य है, तो घटनाके स्वरूपपर विवाद क्यों?

'उन्होंने आपको कुछ सिखलाया?' मेरे मित्रमें उत्कण्ठाका संचार हो गया। स्वर्ण घटित करनेकी प्रक्रियाके प्रति या कहानी सुननेके प्रति थी वह उत्कण्ठा—आप समझ लें। आप भी वह सब सुननेको उत्सुक होंगे।

× × ×

'आपने कभी स्वर्ण बनाया है?' मैंने उस साधुसे पूछा था।

'कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।' संक्षिप्त उत्तर था।

'अब बना देखें!' मैंने आग्रह किया।

'अब भी कोई आवश्यकता नहीं।' उन्होंने उपेक्षा कर दी।

'परीक्षणके लिये!'

'प्रक्रियामें मुझे पूरा विश्वास है और कुतूहल मुझे सदा अरुचिकर लगता है।' साधु तो साधु ठहरे।

'प्रक्रिया बता देनेकी कृपा करेंगे?' मैंने प्रार्थना की।

'बताना न होता तो तुमसे चर्चा क्यों करता?' साधु सीधे और स्पष्टवादी थे। 'किंतु इससे पूर्व तुम ठीक समझाओ कि स्वर्णका उपयोग क्या करोगे?'

'आप हँसेंगे। मैं वह सब आपको नहीं सुनाऊँगा। सम्भव है आपने भी सम्पन्न हो जानेका कभी स्वप्न देखा हो। भवन कैसा बनवाना है, उसकी साज-सज्जा कैसी रखनी है, क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँसे, किस प्रकारके मँगाने हैं—देखा है कभी आपने ऐसा स्वप्न? देखा है तो आपसे कुछ कहना नहीं। आप मेरी बात समझ जायँगे। न देखा हो तो आपके सम्मुख मुझे अपनी हँसी कराना नहीं।'

साधु बड़े धैर्यसे सुनते रहे मेरी कल्पना। दो-ढाई घंटे पूरे वे सुनते ही नहीं रहे, मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे। मेरे स्वप्नको बृहत् करने और स्पष्ट करनेमें योग देते रहे।

'अब कल बातें करेंगे।' अन्तमें वे अपने आवश्यक कार्यसे उठ गये। आप समझ सकते हैं कि मैंने कितनी उत्सुकतासे उस 'कल' की प्रतीक्षा की होगी।

'तुम्हारा स्वप्न सत्य हो जायगा तब? समझ लो कि सब कुछ हो गया।' साधुने दूसरे दिन स्वयं प्रारम्भ किया, यद्यपि मैं कम उत्सुक नहीं था प्रारम्भ करनेके लिये। उनके स्थानपर मैं समयसे कुछ पहले ही पहुँचकर प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगता था कि आज उनका पूजा-पाठ पूरा भी होगा या नहीं।

'इस प्रकार रहना होगा। लोग इतना सम्मान करेंगे।' मैंने अपनी स्वप्न-कल्पनाको स्पष्ट करनेमें संकोच नहीं किया।

'एक दिन बीमार पड़ोगे!' साधु हँसे नहीं।

कौन-कौन डाक्टर आयेंगे, कैसे लोग देखने आया करेंगे, आदि इस सम्बन्धके स्वप्न भी सुना दिये मैंने।

'डाक्टर बहुत-से इन्जेक्शन देगा! शरीर उठनेमें असमर्थ रहेगा।' अवश्य वे साधु भी पक्के कहानीकार होंगे। उन्होंने बड़ी भयानक बातें बतायीं—'नौकर मनमानी करेंगे। पड़े-पड़े चिड़चिड़ाते रहोगे।'

तिरस्कार, असमर्थता, हानि—इन सबका बड़ा भयानक वर्णन था साधुके शब्दोंमें। कठिनाई यह थी कि मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यदि मेरा स्वप्न सत्य होता है तो साधुकी कल्पनाके सत्य होनेकी सम्भावना ही अधिक थी।

प्रतिकूल स्वजनोंका तिरस्कार, अकृतज्ञ सेवकोंकी उपेक्षा, असमर्थता, रोग, हानि और बिना कुछ बोले कुढ़ते रहना; क्योंकि जो इतनी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पा लेगा, उसे अपने सम्मानको दूसरोंके सम्मुख तो सदा सँभालकर रखना होगा—कितनी भयंकर कल्पना थी।

जो लोग मेरे समान स्वप्न देखते हों, उन्हें अवश्य उस साधुसे मिल लेना चाहिये। वे स्वर्ण बनाना भी जानते हैं और पशुप्राय मनुष्यको समझाकर मनुष्य बनाना भी। कठिनाई यही है कि मैं उनसे पचीस वर्ष पूर्व मिला था। वे गङ्गाकिनारे पर्यटन करनेवाले परिव्राजक थे। तीन दिन मेरे समीप रुके थे। कोई पता उनका मुझे ज्ञात नहीं।

'अन्तमें मर जाओगे!' साधुने अपनी बात समाप्त की। अवश्य समवेदनाके बहुत तार आयेंगे। समाचार-पत्र बड़े-बड़े शीर्षक देंगे। बड़े समारोहसे अन्त्येष्टि होगी। भव्य समाधि बनेगी। मर जानेवालेको इन सबसे क्या लाभ। उसे यमदूत नरककी यन्त्रणा देते होंगे—नरकका वर्णन सुना है तुमने? सम्पत्तिके साथ भोग और तब नरक। बुरी बात है—बहुत बुरे स्थानपर तुम्हारा स्वप्न समाप्त होता है। अच्छा, अब कल।'

मैं उस 'कल' भी गया। अवश्य मुझमें अब वह उत्साह नहीं रह गया था। साधुने कमण्डलु उठा लिया था और गीली कौपीन भी कंधेपर डाल ली थी। वे अब जानेवाले थे।

'इस पुड़ियामें दो चावल पारद-भस्म है!' चलते-चलते उन्होंने कहा—'तुम इसे पिघले ताम्रमें डाल दो तो स्वर्ण बन जायगा। ऐसी मूर्खता न करो तो अच्छा। इसकी खुराक एक चावल है। दमा या दूसरे किसी रोगसे मरणासन्न व्यक्तिको दे दोगे तो एक बार देनेसे ही वह कष्टसे पूरा छुटकारा पा जायगा।'

साधु कहीं किसीके होते हैं। मुझे एक नन्ही पुड़िया देकर वे चले गये। उनका फिर कभी कोई पता नहीं लगा। आप समझ सकते हैं कि मैंने उनका पता लगानेका कम प्रयत्न नहीं किया होगा—कोई लाभ नहीं हुआ।

× × ×

'आपने स्वर्ण बनाया?' मेरे मित्रने पूछा और सम्भवतः आप भी यही पूछना चाहेंगे।

'प्रयत्न भी नहीं कर सका।' निराश होना पड़ा मित्रको—यह तो बहुत पीछे पता चला कि ताँबेको पिघला लेना सामान्यतः सरल नहीं है। सम्भवतः एक सप्ताह पश्चात् ही रेलकी यात्राके समय एक अपरिचित यात्रीको दमेका दौरा हुआ। बड़ी दारुण वेदना थी उसे। एक चावल भस्म मैंने दे दी। इसी प्रकार एक महिलाको यात्रामें हिस्टीरियाका दौरा हुआ और शेष भस्म दे दी गयी। तत्काल दोनोंको आशातीत लाभ हुआ था। दोनों अपरिचित थे, अतः पीछेकी बातका मुझे पता नहीं।'

'प्रारब्धमें नहीं था स्वर्ण आपके।' मित्र खिन्न हो उठे।

'साधुने एक वस्तु मुझे और दी थी।' मैंने उन्हें बताया; क्योंकि उन्हें खिन्न करनेको तो यह कथा मैंने सुनानी प्रारम्भ नहीं की थी।

'वह क्या?' सोल्लास पूछा उन्होंने।

'विचारकी एक शैली।' मैंने उनकी उत्सुकतामें साथ नहीं दिया। 'सम्पत्ति और दूसरे साधनोंका मोह

मूर्खता है। उनका अन्तिम परिणाम तो दूर—उनके उपयोगकी ठीक स्थिति भी समझ ली जाय तो उनका मोह समाप्त हो जाय।'

'आपने जो नाम गिनाये और वैसे और भी लोग' मैं अपनी बात कह रहा था—'सब आपकी बच्चीके समान हैं—उनकी विद्या और प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो। यह बच्ची ही कहाँ कम विद्वान् मानती है अपनेको। अपने अक्षरज्ञानका पर्याप्त गौरव है उसे। चिरमिटीके बीजोंमें उसका विचारहीन आकर्षण—ऐश्वर्यका सारा आकर्षण इससे उच्चकोटिका नहीं।'

'आपकी दार्शनिकता अपनी समझमें नहीं आती।' मित्र बोले।

'सीधी बात है।' मैं समझाना चाहता था। 'परमात्मा दयामय है, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उसकी अपार कृपापर विश्वास न भी हो तो हम सब प्रारब्धको तो मानते ही हैं।'

'प्रारब्ध नहीं था, इसीसे तो हाथमें आकर भी स्वर्ण बनानेकी विधि आप सीख नहीं सके।' मित्रका मन नहीं अटका था।

'मैंने यह सीखा कि शरीरमें आसक्ति भी सम्पत्तिकी तथा स्वजनोंकी आसक्तिके समान मूर्खता है।' अब मैं भी बात समाप्त कर देना चाहता था। 'शरीर रोगी होगा, असमर्थ होगा और अन्तमें साथ छोड़ देगा। शत्रुसे भी बुरा व्यवहार स्वजनोंको करते सर्वत्र देखा जा सकता है। शरीरका सुख, इसका सम्मान और इसकी स्मृति सुरक्षित रखनेमें जो नरककी चिन्ता न करे, जो इन्हें ही अपना मान ले, उससे बड़ा मूर्ख कौन?'

'अब दीजिये मुझे चिरमिटी!' बच्ची आ गयी थी। छोटे भाईको वह साथ लायी थी। अब मुझे चिरमिटी तोड़ने उठना था; क्योंकि वह बच्चा भी मचल रहा था—'मुझे चिरमिटी दीजिये।'

## 'बस इतनी-सी चाह'

( रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-ला, विद्यावारिधि )

धरा धाम धन नहीं चाहिए, सुख संपद सम्मान।<br>
नित्य चित्तमें रमे रमापति, निज सेवक लघु जान॥ १॥<br>
शुभ करणी सद् ज्ञान हेतु हो, मेरा इन्द्रिय-ग्राम।<br>
सात्त्विक जीवन साधन बन वे, सफल करें निज नाम॥ २॥<br>
काम क्रोध मद लोभ मोह के, सारे बंधन काट।<br>
मन बन जाये हरिका मन्दिर, खुलकर ज्ञान कपाट॥ ३॥<br>
राम-नाम जपका रस रसना, करके अविरल पान।<br>
जन-जनका तन शीतल कर दे, बनकर विनय निधान॥ ४॥<br>
हों चरितार्थ युगल कर करके, जन हित के नित काम।<br>
उनका सतत परिश्रम देवे, दुखियोंको आराम॥ ५॥<br>
जहाँ कृष्ण सीतापति विचरे, निज-लीला विस्तार।<br>
उस पावन पथपर पद चलकर, पावें मोद अपार॥ ६॥<br>
जन-सेवामय प्रभु-पूजा में, रहे अमित उत्साह।<br>
रहूँ मगन हरि-मिलन-लगन में, बस इतनी-सी चाह॥ ७॥

# भक्त-जीवनका एक स्मरणीय प्रसङ्ग

( लेखक—विद्वान् श्रीयुत के० नारायणन् )

### गङ्गा उमड़ आयी !

भक्तिकी शक्ति अपरिमित है ! अनेकों महान् व्यक्तियोंने सच्ची भक्तिके प्रभावसे बहुत-से अद्भुत कार्य कर दिखाये हैं । एकलव्यने केवल गुरुभक्तिके द्वारा धनुर्विद्या सीख ली थी । शिवाजीने गुरुभक्तिके प्रभावसे निडर होकर बाघिनका दूध दुहा था । श्रीमुत्तुस्वामि दीक्षितरने भक्तिपूर्वक अमृतवर्षिणी राग गाकर पानी बरसाया था । इसी प्रकारके महानुभावोंमें तिरुविशनल्लूर अय्यावय्यर भी एक हैं ।

अय्यावय्यर बड़े भक्तिमान् ब्राह्मण थे । नित्य नियमित रूपसे संध्या और पूजा-पाठ करते थे । संस्कृतके बड़े विद्वान् थे । वेद तथा आगमोंमें अच्छा अधिकार रखते थे । सारा गाँव उनका बड़ा आदर करता था । वे यथासाध्य दूसरोंकी सहायता भी करते थे ।

एक बार उनके पिताके श्राद्धका दिन था । ब्राह्मण-लोग आ गये थे । मन्त्रोच्चारण हो रहा था । ब्रह्मभोजके लिये तैयारियाँ हो रही थीं । श्राद्धके अवसरपर इधर एक ब्राह्मणको प्रधानरूपसे भोजन दिया जाता है । उस भोजनको विष्णुका भोजन कहा जाता है ।

इस समय अय्यावय्यर किसी कामसे घरके पिछवाड़े-की ओर गये । वहाँ थोड़ी दूरपर एक भूखा निम्न जातिका मनुष्य खड़ा था । भूखके मारे उसका पेट पीठसे चिपक गया था । आँखें धँस गयी थीं । वह अय्यावय्यरसे बड़े विनीत भावसे बोला—'स्वामिन् ! चार दिनसे कुछ नहीं खाया है । भूखसे तड़प रहा हूँ । कृपा करके कुछ खानेको दें, भूख सही नहीं जाती । प्राण निकले जा रहे हैं ।'

अय्यावय्यरका हृदय पिघल उठा । वे तुरंत अंदर गये । और कोई भोजनका सामान तैयार नहीं था; विष्णुके लिये जो भोजनसामग्री पत्तेपर रखी थी, उसीको लाकर अय्यावय्यरने उसके हाथमें दे दिया । वह उसे बड़े चावसे खाकर तृप्त हो गया । उसका हृदय खिल उठा ।

इधर पुरोहितोंने देखा तो उनमें बड़ी खलबली मची । अय्यावय्यरने श्राद्धके दिन विष्णु-भोजन किसी निम्न जातिके मनुष्यको दे दिया । यह सबके लिये असह्य था । पुरोहितोंने कह दिया कि अय्यावय्यर प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तो उन्हें जातिभ्रष्ट कर दिया जायगा । प्रायश्चित्त यह था कि गङ्गास्नान किया जाय ।

अय्यावय्यर सोचमें पड़ गये । उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि उन्होंने ठीक ही किया । उनकी दृष्टि-में क्षुधासे मरनेवाले एक जीवको भोजन देना एक बड़ा शुभ कार्य था—वह विष्णु-भोजन ही था, उन्हें इसमें कोई गलती दिखायी नहीं पड़ी । पर अब आज श्राद्ध कैसे हो ! गङ्गास्नान कैसे किया जाय । गङ्गा तो यहाँसे हजारों कोस दूर है ।

अय्यावय्यर सीधे अपने घरके पीछे जो कुआँ था, उसकी ओर गये । उन्होंने उसके पास खड़े होकर आँखें मूँद लीं और वे कातर स्वरसे भगवती गङ्गादेवीकी प्रार्थना करने लगे—'कैसा आश्चर्य, कुएँमें जल उमड़ने लगा । जलका स्तर धीरे-धीरे ऊँचा होता गया और अन्तमें वह कुएँके ऊपरतक आ गया । अय्यावय्यरकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । वे पुरोहितोंके पास आकर बोले—'देखिये, गङ्गाजल आ गया !' पुरोहित अचंभेमें पड़ गये । सब कुएँके पास आ खड़े हुए तो देखा कि कुआँ फेनीले पानीसे उमड़ रहा है ।

सबसे बड़े पुरोहितने कहा—'अय्यावय्यर ! आप धन्य हैं ! हम संकुचित विचारवाले आपकी महिमा क्या जानें !'

फिर क्या था । गङ्गाजल मिल गया था । पुरोहितोंका मन-परिवर्तन भी हो गया था । अय्यावय्यरने स्नान किया और श्राद्धका कार्य विधिपूर्वक सुसम्पन्न हुआ ।

आज भी वह दिन बड़ी भक्ति-श्रद्धासे मनाया जाता है । भक्तिमान् ब्राह्मणलोग उस दिन तिरुविशनल्लूरमें इकट्ठे होते हैं और अय्यावय्यरका यशोगान करते हैं ।

# राम-श्यामकी झाँकी

( लेखक—डा० श्रीसुदर्शनसिंहजी )

[ गतांकसे आगे ]

## ४५—प्रागल्भ्य

'क्यों रे, तूने खोले हैं बछड़े ?' किसे पता था कि आज यह गोप अभी घरपर ही है। राम-श्याम बालसखाओंके साथ गोकुलकी गलियोंसे उछलते-कूदते नित्यकी भाँति घूम करते घूम रहे हैं। गोप चले गये हैं गायें चराने और गोपियाँ इन बालकोंकी ललित क्रीड़ा देखनेमें लगी हैं। इस गोपके गोष्ठसे बालकोंने सब बँधे बछड़े खोल दिये। किंतु जब यह घरसे निकला, सब-के-सब ताली बजाते भाग खड़े हुए हैं। दौड़कर सबसे पीछे भागते एक डेढ़ वर्षके नन्हे दिगम्बर बालकका हाथ पकड़ लिया है इसने और डाँट रहा है उसे। बड़ा क्रोधी है यह गोप।

'मैंने नहीं खोले हैं।' बेचारे बालकके नेत्र भर आये हैं। भयसे उसकी तोतली वाणी और अस्पष्ट हो गयी है। कातर हो रहा है वह।

'मैंने खोले हैं बछड़े।' किसी सखाको कोई कुछ कहे, यह श्याम सह नहीं सकता। यह लौट आया कन्हाई। दो वर्षका यह नीलसुन्दर इतने बड़े हट्टे-कट्टे गोपके सामने तन-कर खड़ा हो गया है—'इसे छोड़ दो।' वाणीमें जो रोब है, खड़े होनेमें जो अकड़ है, देखने ही योग्य है वह।

'तूने खोले हैं ! क्यों खोले ?' गोपने बालकका हाथ छोड़ दिया और श्यामका हाथ पकड़ा।

'हाँ, खोले तो मैंने ही हैं।' सखा छूट गया और कृष्णकी वह प्रगल्भता चली गयी। झुक गया है उसका सुन्दर मुख। पीछे मुड़कर देख रहा है वह, कोई उसकी सहायता करेगा या नहीं ?

'क्या हुआ जो बछड़े खोल दिये ? हाथ छोड़ दो।' यह आया दौड़ता हुआ दाऊ। झटक दिया हाथ आते ही इसने गोपका। इसकी तेजस्विता तो फिर इसीके योग्य है। 'तुमने क्यों पकड़ा कन्हाईका हाथ ?' नन्हा-सा यह गौरसुन्दर इस प्रकार इतने बड़े गोपसे पूछ रहा है, जैसे कोई सम्राट किसी सामान्य व्यक्तिको फटकार रहा हो।

'इसने बछड़े खोल दिये। वे वनमें भाग जायँगे और गायोंका दूध पी डालेंगे। तुम अपने छोटे भाईको मना क्यों नहीं करते ?' गोप हँस तो नहीं सका; पर उसके मुखपर जो डाँटनेका भाव था, वह चला गया है। इस दाऊसे वह झगड़ नहीं सकता। क्या हुआ जो यह तीन वर्षका बालक है। गोप जानता है कि यह रुष्ट हो जाय तो उसके घरमें एक भी मटका बचेगा नहीं। उलके ऊखलतकको यह पटक-कर फोड़ फेंकेगा। साथ ही ये सब बालक खड़े हो गये हैं। अब इन्हें डराया नहीं जा सकता। मधुमक्खियोंके इस छत्ते-को छेड़नेमें अब कुशल नहीं है।

'बछड़े अपनी माँका दूध पियेंगे, तुम अपनी माँका दूध पियो।' उसकी पत्नी द्वारकी ओटमें हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है। व्रजके ये दोनों युवराज उसके दढ़ियल पतिको उसकी बुढ़िया माँका दूध पीनेका आदेश दे रहे हैं, जैसे अभी स्वयं वे अपनी माताओंका दूध पीते हैं। बेचारा गोप खड़ा-खड़ा देख रहा है और उसे अँगूठा दिखाते, ताली बजाते, दौड़े जा रहे हैं ये बालक।

## ४६—पावस-नृत्य

'कनूँ, तू मयूरसे अच्छा नाचता है।' नन्हा तोक ताली बजाकर कूद रहा है। झुंड-के-झुंड मयूर इधर-उधर ठुमुक-ठुमुककर नृत्य कर रहे हैं। किंतु श्यामसुन्दरके नृत्यकी शोभा तो भिन्न ही है।

'दादा, तू भी नाच !' कन्हाईने बड़े भाईका हाथ पकड़ा और दोनों गोल चक्कर काटने लगे।

'अरे !' हाथ छोड़कर अलग-अलग राम-श्याम सैकड़ों बालकोंके साथ दोनों हाथ फैलाये गोल-गोल फिरते रहे और घूम-कर भूमिमें बैठ गये। वे बैठते हैं और फिर उठते हैं। उठते हैं और फिर बैठते हैं।

नीचे कोमल वालुका और ऊपर मेघाच्छन्न आकाश। नन्ही फुहियाँ बरस रही हैं। अलकोंमें हीरक-कनियाँ उलझती जा रही हैं। बालक चक्कर काट रहे हैं, घूमकर गिर रहे हैं और हँस रहे हैं।

मयूरपिच्छ लहरा रहा है, अलकें हिल रही हैं,

पटुका फहरा रहा है, वनमाला वक्षपर चञ्चल हो रही है, पीली कछनी उड़ रही है, मोहन दोनों हाथ फैलाये शीघ्रतासे गोल घूम रहा है और घूम रहा है उसके समीप ही उसीकी भाँति हाथ फैलाये उसका नीलाम्बरधारी अग्रज।

'पृथ्वी नाचती है, पेड़ नाचते हैं, गृह नाचते हैं।' बालक हँस रहे हैं चक्कर काटते हुए। वे एक दूसरेको घूमकर पकड़ते हैं और बद्-बद् गिरते हैं भूमिपर।

'दादा!' श्यामने घूमते-घूमते गिरनेसे बचनेके लिये दाऊको पकड़ लिया। दोनों भाई एक दूसरेको पकड़े धप-से हो रहे।

'दादा!' भूमिपर एक हाथ टेके, एक हाथसे बड़े भाई-को पकड़े कन्हाई कभी सिर इधर झुकाता है और कभी उधर। वह खुलकर हँसता है—'दादा, सब नाच रहे हैं।'

'तू नाचेगा तो सब नाचेंगे ही।' दाऊने भी एक हाथसे छोटे भाईको सम्हाल रखा है। वह जानता है कि उसके अनुजको अभी चक्कर-सा लगता होगा।

'मैं कहाँ नाच रहा हूँ?' श्याम अब स्थिर हो रहा है। वह स्थिर हो या चञ्चल; किंतु स्थिर तो वही है। शेष सब तो नाच ही रहे हैं। उससे कोई कहता क्यों नहीं—'तू नचा रहा है, इससे सब नाच रहे हैं।'

'कनूँ, उठ! मैं तेरे साथ नाचूँगा।' तोकने हाथ पकड़ लिया। इस कनूँके साथ नाचनेवाले ये कुमार—पावस-नृत्य तो इन्हींका है। यों नाच तो सभी रहे हैं, पर सब नाच रहे हैं ग्रीष्मके झोकोंसे विवश संतप्त धरापर।

## ४७—मैंने कृपा की

'दादा, देख तो!' श्यामने एक कंकड़ हाथमें उठाया।

'तू घड़ा फोड़ेगा इसका?' दाऊने रोकना चाहा।

'इसके घड़ेसे इतना मोटा पानी निकलेगा।' अपनी पतली कनिष्ठिका दिखायी मोहनने। वह यह सोचकर प्रसन्न हो गया है कि घड़ेसे पानीकी धारा गिरेगी।

कालिन्दीके कोमल पुलिनपर प्रातःकाल छोटे-छोटे बालक खेल रहे हैं। किसी-किसीकी कटिमें कछनी है, नहीं तो सब दिगम्बर ही हैं। रेतमें घरौंदे बनाते हैं, गड्ढे खोदते हैं, लेट लगाते हैं और एक दूसरेपर रेत उछालते हैं। हँसना, कूदना, दौड़ना, ताली पीटना और कोलाहल—आनन्दकी क्रीड़ा चल रही है। अलकोंमें धूल भर गयी है, यह सोचनेका इन्हें अवकाश कहाँ।

घाटसे एक गोपी अपने घड़े भरकर ऊपर आयी। खड़ी होकर एकटक देखने लगी शिशुओंकी क्रीड़ा। कन्हाईने देखा उसके घड़ेको और एक नया खेल सूझ गया उसे।

मोहन प्रसन्न हो रहा है—दाऊ तो बस, इतना देखना जानता है। उसका छोटा भाई प्रसन्न रहे, बस। कनूँके खेलमें वह बाधा नहीं देता। वह तो स्वयं श्यामके साथ खेलमें योग देता है, यदि उसके योगसे श्यामके अधरोंपर हास्यकी रेखा दीख पड़े। कितना प्रसन्न हो रहा है कन्हाई घड़ेमेंसे जल गिरनेकी कल्पनासे!

'इसका घड़ा तो मैंने.........'गोपिकाने मैयाको उलाहना दिया है। मैया श्यामको डाँटेगी। दाऊ अपने छोटे भाईको बचानेके लिये स्वयं अपने ऊपर आगेसे ही अपराध ले लेना चाहता है।

'हाँ मैया, दादाने देखा है।' श्याम बीचमें ही बोल पड़ा। 'मैंने इसपर कृपा की।'

'अच्छा, मेरा बेटा अब कृपालु हो गया है!' मैयाको हँसी आ गयी।

'मैंने तो एक घड़ेमें थोड़ा-सा छेद किया।' श्यामने अपनी अँगुली दिखाकर बताया—'इतना मोटा पानी निकलने लगा घड़ेसे। इसने फिर तो तीनों घड़े पटक दिये। फूट्से फूट गये सब। इसने घड़े क्यों फोड़े?' जैसे अपराधिनी वही है और उसीको डाँट पड़नी चाहिये।

'देख मैया, इतने बड़े-बड़े घड़े थे।' दोनों हाथ फैलाकर बताया मोहनने। 'दो घड़े सिरपर और कटिपर रखकर यह ऐसे तो चलती थी।' अब कन्हाई जो मटककर चल रहा है—गोपिकाको हँसी न आये तो और क्या हो।

'मैं घड़ेको न फोड़ता तो इसकी कटि टूट नहीं जाती?' बड़े भाईकी ओर अब उसने देखा। जैसे पूछता हो—'दादा, ठीक है न?' इस चञ्चलके नेत्र क्या-क्या कहते हैं, अब कोई कैसे समझे?

## ४८—वस्त्र-धारण

'श्याम, आ। मैं तुझे कछनी पहना दूँ।' ऋषभ गोपकुमारोंमें बड़ा है। वह कन्हाईकी सहायता करना चाहता है।

'मैं पहिन लूँगा।' कृष्णचन्द्र अपने प्रयत्नमें है। वह कछनीको कटिमें लपेट लेना चाहता है। बीच-बीचमें रुककर

दूसरे सखाओंकी ओर देखता है—वे कैसे कछनी बाँध रहे हैं।

एक ओरसे लपेटनेपर चिकना कौशेय वस्त्र दूसरी ओरसे खिसक जाता है। एक छोर नन्हे हाथोंमें आता है तो दूसरा छूट जाता है। श्यामसुन्दर अच्छी उलझनमें पड़ा है। वह कभी एक छोरसे, कभी दूसरे कोनेसे और कभी बीचोबीचसे कछनीको बाँधनेका प्रयास कर रहा है। कोई पद्धति ठीक नहीं बैठती।

बालकोंने कछनी खोलकर इस छोटे झरनेमें स्नान किया है। सबके अङ्ग धुल गये हैं। मोहनकी अलकोंसे अब भी बिन्दु झर रहे हैं। एक-दो पुष्प अभी भी अलकोंमें उलझे हैं। करोंमें पतले कङ्कण, भुजाओंमें हल्के अङ्गद, वक्षपर मुक्तामालके ऊपर गुंजाओंकी माला और उनमेंसे झाँकता श्रीवत्स-चिह्न, कण्ठमें कौस्तुभ, कटिमें मणिजटित स्वर्ण-मेखला, चरणोंमें नूपुर। धुले हुए विकच कुवलयकी यह शोभा। बछड़े दूर चर रहे हैं और बालक अपने-अपने वस्त्र पहिननेमें लगे हैं।

'दादा!' श्याम अन्तमें झुँझला गया। उसने कछनी पैरोंके पास भूमिमें डाल दी और दो क्षण उसे देखता रहा। फिर हाथमें उसे उठाकर बड़े भाईके सामने जा खड़ा हुआ।

'ला, मैं पहिना दूँ।' दाऊने स्वयं वस्त्र पहिन लिये हैं। अपने छोटे भाईके हाथसे कछनी लेकर वह घुटनोंके बल बैठ गया है। दिगम्बर श्याम उसके सम्मुख खड़ा है और सिर नीचे करके ध्यानसे देख रहा है—सीख लेना चाहता है कछनी बाँधना।

'श्यामसे कुछ अंगुल ही तो बड़ा है यह दाऊ। एक वर्ष बड़ा क्या कोई बहुत बड़ा होता है? परंतु दाऊको कछनी बहुत अच्छी बाँधनी आती है, यदि यह चञ्चल कन्हाई चुपचाप खड़ा रहे।'

'दादा!' मोहन अपनी कछनी बँधते-न-बँधते ताली बजाकर भाग जाना चाहता है। इसने वह एक बहुत सुन्दर पक्षी देख लिया है।

'तनिक रुक।' दाऊने भागने नहीं दिया।

'वह-वह पीला पक्षी।' कन्हाईको भला, अब कोई कितने क्षण रोक सकता है। दाऊ शीघ्रता करनेमें लगा है।

### ४९—गाय ब्यायी

'दादा! दादा! कपिलाने बछड़ा दिया है। बड़ा सुन्दर बछड़ा है। आ, देख तू।' श्यामसुन्दर बहुत प्रसन्न है। वह जल्दी-जल्दी मैयाको, माता रोहिणीको और बाबाको यह शुभ समाचार दे आया है। उसकी कपिलाने दूध-सा उजला बछड़ा दिया है। अपने बड़े भाईको ले जाकर तुरंत वह बछड़ा दिखा देना चाहता है।

'गाय भूखी है। मैं इसके लिये कुछ ले आता हूँ।' दाऊने बछड़ेको देखा और उसका ध्यान कपिलाकी ओर गया। तुरंतकी ब्यायी गाय भूखी तो होगी ही। कितना खाली दीखता है उसका पेट। गोपोंने उसके आगे बहुत कुछ रख दिया है, पर इससे होता क्या है। कपिलाको तो दाऊ या श्यामके हाथसे कुछ चाहिये।

'ले, खा ले!' छोटे-से पात्रमें यह नीलाम्बरधारी छोटा बालक कुछ अन्न लाया है और फिर दौड़ गया है एक मुट्ठी दूर्वा लेने। कपिला अन्नकी ओर देखनेके स्थानपर उसकी ओर देख-देखकर हुंकार कर रही है।

'उठ! उठ तू!' श्यामसुन्दर बछड़ेके पास आ बैठा है। अपने लाल-लाल दोनों नन्हे हाथोंसे उठनेमें यह बछड़ेकी सहायता कर रहा है। बछड़ा अभी ठिकानेसे उठ नहीं पाता और चलनेमें उसके पैर लड़खड़ाते हैं। गिर पड़ता है बार-बार वह। अपनी माँके बदले वह कन्हाईको ही सूँघ लेना चाहता है उसके चारों ओर घूमकर। श्याम हँसता है, मुख हटाता है, जब बछड़ा उसका मुख और सिर सूँघनेका प्रयत्न करता है। दोनों हाथोंसे बछड़ेका मुख पकड़कर मोहन उसे बार-बार पुचकार रहा है।

कपिला बार-बार हुंकार कर रही है। वह अपने सामने बैठे दाऊको कभी सूँघती है, कभी दाऊके हाथसे तृण लेती है या उसकी छोटी टोकरीसे अन्नके दो-एक ग्रास खा लेती है और फिर हुंकार करके श्यामसुन्दरकी ओर शीघ्रतासे लपकती है। वह अपने नवजात बछड़ेको चाट ले या इस नीलसुकुमारको सूँघे! बछड़ा तो कहीं जाता नहीं, पर यह श्याम और यह गौर कहीं उसके पाससे दूर न चले जायँ—कपिला आज अत्यन्त आतुर हो रही है। बार-बार हुंकार करती है। बार-बार सूँघती है दोनोंको।

'दादा, तू इसे उठना सिखा।' श्यामसुन्दर बहुत उत्सुक है कि यह नन्हा बछड़ा फुदकने लगे। बछड़ा उठता है तो कन्हाई उससे तनिक दूर हट जाता है कि वह उसके

पास दौड़कर आवे; पर बछड़ा अनेक बार लड़खड़ा जाता है। वह खड़ा ही हो पाता है पैर फैलाकर।

दाऊ अब अपने छोटे भाईके पास आ गया है। किसीको उठना और श्यामकी ओर चलना उसे छोड़कर भला, कौन सिखा सकता है। किंतु, कपिला तो हुंकार करने और इन्हें सूँघनेमें ही व्यस्त है और उसका यह नन्हा बछड़ा भी अभीसे इनके आस-पास मँडरानेका यत्न करने लगा है।

## ५०—जागरण

'हुम्मा! हुम्मा!' गायें बहुत रात पहले ही पुकारने लगती हैं। बछड़े गोष्ठसे भागकर द्वारपर आ जुटते हैं। मैयाको लगता है कि सब उसके लालको जगाना चाहते हैं।

कन्हाई सो रहा है। दूध-से उजले पलंगपर वह नीलमकी सुकुमार मूर्ति-जैसा—उसके इधर-उधर अलस पड़े लाल-लाल कर-चरण। अलकें मुखपर घिर आयी हैं। झीना पीत पट मैयाने उढ़ा दिया है उसे। बड़ी-बड़ी पलकें बंद हैं।

'श्यामसुन्दर!' मैया कुछ क्षण देखती रही अपलक। अब यदि वह धीरेसे न जगाये तो सखाओंके आ जानेपर यह उसका लाल ठिकानेसे मुख भी नहीं धोने देगा। इसे वनमें जानेकी हड़बड़ी पड़ेगी। खीझेगा न जगानेके लिये।

'ऊँ, ऊँ!' कृष्ण तनिक हिला, दोनों हाथोंको नेत्र मलनेके लिये ले गया और फिर शिथिल हो रहा।

'कनूँ!' मैयाने फिर पुचकारा।

'दादा!' नेत्र बंद किये-किये ही हाथसे अपनी शय्या-पर बड़े भाईको टटोल लेना चाहता है वह। उसके स्वर एवं गतिमें अलसभाव है।

'देख तो, दाऊ कबसे उठ गया है!' मैयाने फिर सचेत किया।

'दादा!' श्यामसुन्दरको अपना दादा मिल नहीं रहा है। अब उसने अँगड़ाई ली, किंतु फिर पेटके बल होकर सो गया। दोनों हाथ मस्तकके पास इधर-उधर पड़ गये।

'दादा!' दो क्षण रुककर अपने-आप फिर हाथसे ढूँढ़ा उसने। 'दादा उठ गया' यह बात धीरे-धीरे समझ रहा है वह। अब दोनों हाथोंसे नेत्र मल रहा है। काजल फैलकर कपोलोंतक आ गया है। हथेलियोंपर काली रेखाएँ बन गयी हैं।

यह उठ बैठा वह शय्यापर नेत्र मलते-मलते। अभीतक भी पलकें खुली नहीं हैं। कटिकी कछनी ढीली-ढाली हो रही है। दोनों चरण आधे मुड़े हैं।

'दादा!' श्यामने पलकें खोल दीं। कैसा है उसका यह दादा! पता नहीं कब जग गया। कब धीरेसे उठ गया और कबसे पलंग पकड़े अपने छोटे भाईके मुखको चुपचाप देख रहा है। कब पुकारता है, पर यह बोलता ही नहीं। धीरे-धीरे हँसता जाता है। कभी-कभी मैयाकी ओर देख भर लेता है।

'दादा!' कन्हाईके अधरोंपर भी मन्द मुसकान झलक उठी। उसकी भङ्गिमा कहती है—'अच्छा, दादा तो यह रहा। मुझसे पहले जग गया!'

और वहींसे झुककर अपनी दोनों भुजाएँ बड़े भाईके गलेमें डाल दीं उसने।

## ५१—वनकी ओर

'राम! अपने छोटे भाईको साथ ही रखना बेटा! इसे धूपमें मत घूमने देना। तुमलोग यमुनामें मत उतरना। देखो, पेड़पर कोई न चढ़े भला और परस्पर झगड़ना भी मत। कन्हाईकी सँभाल रखना लाल!' मैयाको पता नहीं कितनी सूचनाएँ देनी हैं। उसका नीलसुन्दर वनकी ओर जा रहा है। इसे किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। धक-धक् कर रहा है मैयाका हृदय।

श्यामसुन्दरको शीघ्रता है और दाऊ तो प्रस्तुत भी हो गया। सखाओंमें कुछ भीतर आ गये हैं और कुछ द्वारपरसे पुकार रहे हैं। अब मैयाकी सूचनाएँ कहाँ सुनते हैं ये दोनों।

लहराता मयूरपिच्छ, सम्हाली-सजायी अलकावली पुष्पमाल्यसे सजी हुई, कपोलोंपर झलमलाते मणि-कुण्डल, भालपर केसरकी भव्य खौरके मध्य कज्जलका बिन्दु, अञ्जन-रञ्जित तनिक रतनारे दीर्घ दृग, कंधोंपर लहराते नील-पीतपट, कण्ठमें मुक्ताकी माला एवं घुटनोंतक लटकती वैजयन्ती माला, एक कंधेसे नीचे लटकता छीका और दूसरेपर पड़ा काला कम्बल, बायें हाथमें शृङ्ग, दाहिनेमें बेंत, कटिकी कछनीमें लगी मुरलिका। मत्त गजराजकी गतिसे झूमते ये राम-श्याम निकले द्वारसे।

उछलते-कूदते चिकने चञ्चल रंग-बिरंगे सहस्रों बछड़ोंका समुदाय आगे-आगे चल रहा है। बछड़े बार-बार पीछे मुड़ आते हैं और दोनों भाइयोंको सूँघकर कूदते-फुदकते फिर आगे चले जाते हैं।

सहस्रों गोप-शिशु—सब-के-सब सुन्दर, सुपुष्ट और चपल। सबको सजाया है उनकी माताओंने। तैलस्निग्ध अलकें, अञ्जन-मञ्जु लोचन, आभरण-भूषित देह, धौतोज्ज्वल वसन—सब लकुट, कम्बल, छीके, वेत्र, शृङ्ग, रस्सियाँ लिये हैं। सब हँसते हैं, कूदते-से हैं और बछड़ोंको हाँकते हुए गाते जा रहे हैं।

आरतीके थाल सजाये खड़ी हैं द्वारोंपर वृद्धाएँ, माताएँ। मार्गमें दोनों ओर खड़े हैं गोपगण। छज्जोंसे पुष्प झर रहे हैं। दूर्वाङ्कुर एवं लाजाके साथ केसरके सीकर बरस रहे हैं।

'कनूँ कोई धूम नहीं करेगा। मैं उसे कहीं इधर-उधर नहीं जाने दूँगा।' दाऊने मैयाको द्वारपर आश्वासन दिया।

'मैं तेरे लिये बहुत-से जामुन लाऊँगा। मैयाके लिये भी और बाबाके लिये भी।' कृष्णचन्द्रने द्वारसे कुछ आगे जाकर, मुड़कर अपनी ओर अपलक देखती माता रोहिणीको पुकारकर कहा।

'अरे नहीं! जामुनपर चढ़ना मत। नहीं चाहिये किसीको यहाँ जामुन! मैं वनसे मँगाये लेती हूँ।' माताकी पुकार कहाँ सुनता है यह चपल। वह कभी इधर जाता है, कभी उधर देखता है। कभी पीछे मुड़ता है, कभी नाचता है। उसे घेरकर नाच रहे हैं, गा रहे हैं ये गोपकुमार। वनकी ओर बढ़ी जा रही है यह मधुर मण्डली।

## ५२—उपहार

'दादा! बता तो, मैं क्या लाया हूँ?' पीताम्बरके भीतर कोई गोल वस्तु छिपाये यह श्यामसुन्दर दौड़ा-दौड़ा हँसता-हँसता आया और दाऊके सामने बैठ गया।

किसी गोपकुमारको—कहना यह चाहिये कि व्रजमें किसीको, स्वयं दाऊको भी कोई सुन्दर स्वादिष्ट या आकर्षक वस्तु मिले तो वह उसी समय कृष्णचन्द्रके लिये सुरक्षित हो जायगी। उसे पानेवाला झटपट श्यामके पास उसे पहुँचाना चाहेगा। और यह श्याम—कोई रत्न, कोई बड़ा-सा पुष्प-गुच्छ, कोई सुन्दर फल, कोई लुभावना फूल, कोई भी वस्तु जो इसे पसंद आ जाय, उसे लेकर दाऊके पास भागेगा। इसे लगता है कि सारी उत्तम वस्तुएँ इसके बड़े भाईको ही मिल जानी चाहिये।

'मयूरका बच्चा।' दाऊने बिना रुके, बिना झिझके उत्तर दे दिया। वैसे कोई भी जानता है कि मयूरका बच्चा इस प्रकार पीतपटमें बंद करके लानेपर हिले-डुले बिना नहीं रहेगा।

'नहीं दादा, तू देखकर बता।' श्यामने पीतपटकी वह पोटली सामने कर दी; किंतु दाऊने जब हाथ बढ़ाया, उसने पोटली दूर हटा ली—'तू छू मत।'

'श्रीदामाका गेंद।' दाऊ हँस पड़ा। वैसे उस पोटलीसे जो सुरभि आ रही है, वह पहेली समझनेकी आवश्यकता नहीं रखती।

'अच्छा, तनिक देख ले।' कन्हाईने अँगुली रखने जितना अंश उस वस्तुका दिखलाया।

'पका बिल्व!' कोई फल है, पीला-पीला यही दीख रहा है।

'अच्छा, तू मुख खोल!' मोहनने अग्रजके चिबुकपर अपना दाहिना हाथ रख दिया।

'तू पहले दिखा!' दाऊने फिर हाथ बढ़ाया।

'ना, मुख खोल तू।' श्यामने पोटली हटा ली।

'रह, मुझे देख लेने दे।' दाऊके मुख खोलनेपर कृष्णचन्द्रने झटसे पटुकेमेंसे एक सुन्दर सुपक्व आम निकालकर बड़े भाईके मुखसे लगा दिया; किंतु जैसे ही दाऊने उसे काटना चाहा—जैसे कन्हाईको कुछ स्मरण आ गया। उसने झट आम हटा लिया और अपने मुखसे लगाता बोला—'कहीं खट्टा हुआ तो?'

'दादा, देख कितना मीठा है?' थोड़ा-सा काटकर मुखमें लेते ही मोहन उल्लसित हो गया। उसने आम बड़े भाईके मुखमें लगा दिया। कन्हाईके अधरोंपर आमके रसकी पीताभ छटा—अपने हाथमें आम लेकर वह अग्रजको खिला रहा है उसके सामने बैठा घुटनोंके बल कुछ उझका-सा, 'मीठा है न?'

'भला, यह भी पूछनेकी बात है? इतनी मिठास और भी कहीं क्या सम्भव है?'

## ५३—शृङ्गार

'तू मेरा पुष्प मत तोड़।' श्याम अपने बड़े भाईका शृङ्गार करना चाहता है। उसे स्वयं सब प्रसाधन-सामग्री एकत्र करनी है। अब उसके देखे पसंद किये पुष्प, प्रवाल आदि कोई लेने लगे तो वह झगड़ेगा नहीं?

'अच्छा ले। तू ही ले ले इसे।' ऋषभ सीधा है।

कन्हाईसे झगड़ना उसे रुचता नहीं। अब उसके तोड़े फूलको यह नटखट अपना बता रहा है तो इसीका सही। दूसरा तोड़ लेगा वह।

'तूने मेरा पुष्प तोड़ा क्यों? इसे वहीं लगा दे।' श्याम तो झगड़नेका बहाना ढूँढ़ता रहता है। भला, टूटा फूल कहीं फिर टहनीमें जुड़ा करता है?

'फूल तेरा सही, ले!' बेचारा ऋषभ अब कैसे इसे मनाये?

'मैं तेरा तोड़ा क्यों लूँ? मैं अपने आप तोड़ूँगा। इसे जहाँ था वहीं लगा।' कन्हाई झगड़ेपर उतर आया है। यह देखता ही नहीं कि ऋषभ इससे कितना बड़ा और कितना तगड़ा है।

'ला, मैं लगा देता हूँ।' भद्र बीचमें पड़ा। अभीतक न तो दाऊका शृङ्गार हुआ न श्यामका। अब झगड़ा बढ़ा तो और भी देर होगी।

'दादा, अब तू चुपचाप बैठा रह। हिलना मत!' मोहन बहुत प्रसन्न है। झगड़ा करके ऋषभसे जीत गया है वह। भद्रने उसका फूल फिर टहनीसे लगा दिया। क्या हुआ जो काँटेमें उलझा दिया गया था वह पुष्प—तोड़ा तो श्यामने स्वयं ही। अब नाचता-कूदता वह बड़े भाईके पास आ बैठा है उसका शृङ्गार करने।

चारों ओर अरुण हरित पल्लवोंसे लहराते फल-भारसे झुके वृक्ष। पुष्पगुच्छोंसे लदी लहराती लताएँ। कूजते पक्षी, नाचते मयूर, उछलते-किलंकते कपिदल और सहस्रशः बछड़े चरते, कूदते या बैठे खड़े। हरित मृदुल यत्र-तत्र नन्हे सुमनोंसे सज्जित मञ्जुल भूमि। बालक मयूरपिच्छ, गुञ्जा, पुष्प, पल्लव चयन करने तथा एक दूसरेको सजानेमें लगे हैं।

पुष्पित कदम्बके नीचे स्नान-धौत स्वर्णाभ, नीलवसन यह बैठा है दाऊ और अब यह उसका इन्दीवर-सुन्दर, पीतवसन अनुज उसके पास आ बैठा है बड़े भाईका शृङ्गार करने।

अलकोंमें ढेरों पुष्प-गुच्छ, कानोंपर किसलयदल, कक्षमें मयूरपिच्छ, गलेमें गुञ्जा तथा वनपुष्पोंकी अनेक मालाएँ, करमें गेरू, खड़िया, रामरजकी डलियाँ और कमल-के पुष्प। प्रसाधनकी सामग्री अपने अङ्गोंपर ही रख ली है इसने और अब एक-एक उठाकर दाऊको सजानेमें जुट पड़ा है।

'दादा, तू हिलना मत!' अच्छा अनुरोध है। स्वयं तो एक-एक वस्तु सजाकर फिर नाचता है और दादा हिले भी नहीं। पर दादा क्या हिल सकता है इस समय।

### ५४—प्रेम

'दादा!' यह कन्नू अपने दादाको सदा अकारण ही पुकारे, ऐसा कुछ नहीं है। इसका तो यह एक स्वभाव हो गया है। सोतेमें भी यह अनेक बार 'दादा, दादा' कर उठता है। इसकी यह पुकार भी बड़ी अद्भुत है। प्रत्येक बार इसके स्वरमें उत्साह, कुतूहल, प्रेम—पता नहीं क्या-क्या होता है। प्रायः यह ऐसे उत्साहसे पुकारता है, जैसे कोई बहुत अद्भुत बात अपने दादासे कहने जा रहा हो या फिर इसका दादा इसे कई युगोंके बाद मिला हो।

और यह दाऊ है कि कन्हाई जब भी पुकारेगा, इसके नेत्र उसकी ओर घूम ही जायँगे। बदलेमें यह बहुत कम बार पुकारता है, बहुत कम बार सम्बोधन करता है। बस, नेत्र उठाकर देखेगा छोटे भाईकी ओर। उस समय इसके नेत्रों-की भावभरी भङ्गी देखने ही योग्य होती है वह छटा तो। दाऊ गाढ़ निद्रामें हो, कन्हाई पुकार ले उसे, तो उस समय भी वह 'हूँ, हाँ' अवश्य कर उठेगा और उसके नेत्र न सही, पर हाथ निद्रामें ही अपने छोटे भाईको टटोल लेनेके लिये हिल उठेंगे।

बसंतकी यह पुष्पित, किसलयमण्डित वनश्री। हरित दूर्वासे आच्छादित भूमितल। पशु-पक्षियोंका आनन्द-उल्लास और भ्रमरोंका मत्त गुञ्जन सार्थक हो गया है आज। आज राम-श्याम दोनोंने सुमनोंसे अपनेको सजाया है। उज्ज्वल पुष्पोंकी छोटी मालाओंमें नीचे पाटलके पुष्प लगाकर उन्हें इन दोनोंने कानोंमें पहिन लिया है। कानोंको घेरकर, रत्न-कुण्डलोंको बंदी करके शोभित वे मालाएँ और कपोलोंपर लटकते पाटलके मृदुल सुमन। सघन स्निग्ध मृदुल घुँघराली अलकराशि भी उज्ज्वल मोटी मालासे घिरी है और फहरा रहे हैं मस्तकपर मयूरपिच्छ। कलाइयोंमें स्वर्ण-मल्लिकाकी माला आज कंगन बन गयी है और भुजाओंके स्वर्णाङ्गद यूथिका-सुमनोंके अङ्गदोंके साहचर्यसे अत्यधिक भूषित हो गये हैं। वक्षपर गुञ्जा, कुन्द, तुलसीदलकी उत्तरोत्तर बड़ी मालाओंको अपने अङ्कमें लिये पचरंगे पुष्पोंकी खूब मोटी वैजयन्ती माला घुटनोंतक लटक रही है।

दाऊ एक सघन नाटे फैले हुए छत्राकार तमालके नीचे

बैठा है एक शिलापर। उसके दोनों चरण शिलासे नीचे हरित दूर्वापर दो विकच सरोज-जैसे लगते हैं।

'दादा!' यह आया है फुदकता हुआ कन्हाई। अपने नीलाम्बरधारी अग्रजकी बायीं ओर मुड़ा हुआ बैठ गया है यह अपने दोनों हाथोंसे बड़े भाईके बायें कंधेको पकड़कर।

'दादा!' इसके सम्बोधनमें केवल प्रेम है। सम्बोधनके लिये ही सम्बोधन है यह और दाऊ मुख घुमाकर अपलक देख रहा है अपने इस अनुजकी ओर। उसे कुछ बोलना नहीं और जो मोहनके इस भावमुग्ध मुखको देख लेगा, बोल पायेगा वह?

### ५५—स्वत्व

'अरी छोरियो! कहाँ जा रही हो सब?' दाऊने पूछ लिया। आज वह एक लाल-लाल किसलयोंसे लदे कदम्बके नीचे जमकर बैठा है। गौएँ आगे-पीछे, इधर-उधर चरनेमें लगी हैं। कन्हाई लगता है कि सखाओंके साथ कहीं पास ही खेलमें लगा होगा।

'दही बेचने।' रंग-बिरंगे वस्त्रों एवं अलंकारोंसे सजी छोटी-छोटी दहेंड़ियाँ सिरपर रखे पाँचसे दस वर्षतककी बालिकाओंका झुंड—वे सब खड़ी हो गयीं। बड़े संकोचसे किसी एक अलक्ष्य कण्ठने उनमेंसे उत्तर दिया।

'हमें दही नहीं खिलाओगी?' दाऊ आज मौजमें है।

'लो, खा लो!' एक साथ ढेर-सी दहेंड़ियाँ सामने रख दी गयीं बड़ी उमंगके साथ।

'हम तो हँसी कर रहे थे। ले जाओ तुम सब।' सच-मुच दाऊ अबतक सहज-भावमें ही बोल रहा था।

'थोड़ा-सा भी नहीं खाओगे?' स्वर अत्यन्त अनुरोध-पूर्ण तथा कातर हो उठे। हृदय कहने लगे—'हाय, हाय! हमारा दही आज क्या व्यर्थ ही जायगा? बड़े भाईने यदि अस्वीकार कर दिया तो छोटा भाई आँख उठाकर भी देखने-वाला नहीं है।

'अच्छा, लाओ!' सामने शिलाको फूँककर स्वच्छ कर दिया नीलाम्बरधारीने। उसे छीना-झपटी नहीं आती, किंतु कोई आग्रहपूर्वक नैवेद्य अर्पित करना चाहे तो अस्वीकार नहीं कर सकता वह।

'तुम इसीमेंसे खा लो!' दहेंड़ियाँ जूठी हो जायँगी, यह बात इन नन्ही बालिकाओंके मनमें नहीं आती।

एक स्पर्धा-सी—कोई पिछड़ा नहीं चाहती। कहीं दाऊने बस कर दिया तो? जो दहेंड़ियाँ यहाँ अछूती रहेंगी—अभागी ही रह जायँगी आगे भी वे।

'हमारा भाग हमको देकर तब आगे जाओ!' कन्हाई तो बड़े भैया-जैसा सीधा नहीं है। वह माँगना जानता ही नहीं।

'बड़े भागवाले आये हैं!' लड़कियोंने परस्पर देखा और नेत्र कड़े किये—'बड़े भैयाने सारी-की-सारी दहेंड़ियाँ जूठी कर दीं और अब ये चले हैं भाग लेने।'

'तब तो सब दही मेरा है!' मोहन उज्ज्वल तथा श्याम पर्वतोंके बीच साँकरी खोरमें दोनों पैर फैलाये, कटिदेशपर दोनों हाथ रखे, मार्ग रोके केसरी-शावकके समान तना खड़ा है—'मेरे दादाका प्रसाद है, कुछ तुम्हारे दादा-का नहीं। धर दो सब दहेंड़ियाँ!'

कौन-सी पोथी कहती है कि बड़े भाईका प्रसाद छोटे भाईका स्वत्व नहीं है? अब यदि कोई किसीका स्वत्व न दे तो वह छीनेगा। दहेंड़ियाँ तो फूटनेवाली ठहरीं।

## दान-लीला

बेंचन चली दधि ब्रजनारि।
सीस धरि धरि माट मटुकी, बढ़ी सोभा भारि॥
निकसि ब्रज के गई गवँडे, हरष भइँ सुकुमारि।
चली गावति कृष्न के गुन हृदयँ ध्यान बिचारि॥
सबनि कें मन जो मिलैं हरि, कोउ न कहति उघारि।
सूर प्रभु घट घटहिं ब्यापी, जानि लईं बनवारि॥

# समाजमें विवाह-विभ्राट्

( लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी )

आगरेके मास्टर ताराचंदको अपनी लड़कीके लिये एक लड़केकी आवश्यकता थी। उनके मित्र हीरालाल मास्टरने एक लड़का बतलाया। रविवारके दिन वे दोनों लड़का देखनेके लिये बरेली गये। लड़का बी० ए० में पढ़ता था, उसका पिता सरकारी नौकर था। जब मित्रसहित मास्टर ताराचंद वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने लड़केके पितासे भेट की। लड़केके पिताने कहा—'अभी तो लड़का पढ़ता है। जबतक वह पढ़ता है, उसके विवाहका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।'

मास्टरने पूछा—'आखिर कबतक पढ़ता रहेगा?' लड़केका पिता कलेक्टर साहबका पेशकार था। मास्टरकी बात सुनकर पेशकारने उत्तर दिया—'यह तो उसकी मरजीकी बात है और विवाह करना भी उसीकी मरजीपर है। यदि वह चाहे तो मैं आज ही उसका विवाह कर दूँ, परंतु अभी विवाहकी उसकी इच्छा नहीं है।'

यह सुनकर मास्टर ताराचंदने अपने मित्र हीरालाल मास्टरसे कुछ संकेत किया। तब हीरालालने पेशकार साहबसे कहा—'खैर, सम्बन्ध पक्का कर लेनेमें क्या हानि है! विवाह चाहे जब करें—आप।'

नाक-भौंह चढ़ाकर पेशकारने उत्तर दिया—'हाँ, हानि तो कोई नहीं है। लड़की पढ़ती होगी?'

मास्टर ताराचंद बोले—'हिंदी मिडिल पास करनेके बाद पढ़ना छोड़ दिया है।'

'आपने उसका पढ़ना क्यों छुड़ा दिया?' पेशकारने कहा। 'आवश्यकताके लिये इतनी शिक्षा काफी है। इसीलिये छुड़ा दिया। कुछ घरका काम-काज भी तो सीखना चाहिये!' मास्टर ताराचंदने उत्तर दिया।

'आपने गलती की। घरका काम सीखनेके लिये सारा जीवन पड़ा था। कम-से-कम अंग्रेजीमें मैट्रिक पास कराना था। गाना जानती है? सितार-हारमोनियम बजा लेती है? कुछ नाचना भी जानती है?' पेशकारने प्रश्न किया।

यह सुनकर मास्टर ताराचंदको गुस्सा आ गया। खूनका घूँट पीकर उन्होंने कहा—'गाना-नाचना तो नहीं जानती।'

मुँह सिकोड़कर सिर हिलाते हुए पेशकार साहब बोले—'तब तो सम्बन्ध होना कठिन है। मेरा लड़का यदुनाथ ऐसी लड़कीसे कदापि विवाह न करेगा। गाना-बजाना और नाचना जानना लड़कीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।'

अब मास्टर ताराचंदसे न रहा गया। सोचा—यह सम्बन्ध तो होनेसे रहा, इसलिये मुँहतोड़ उत्तर देनेमें क्या हर्ज है? वे बोले—'हाँ साहब, आजकलके नौजवानोंको पढ़ने-लिखनेके बाद भी बेकारीका सामना करना पड़ता है। इसी कारण वे पढ़ी-लिखी, गाने-बजाने-नाचनेमें एक्सपर्ट बीबी तलाश किया करते हैं। ताकि यदि नौकरी न मिली तो अपनी स्त्रीको किसी फिल्म-कम्पनीमें भरती कराकर अपना पेट भर सकें। आपका विचार तो बुरा नहीं है; क्योंकि पढ़े-लिखे नौजवान चाहे बरसों बेकार बैठे रहें, गाने-बजाने-नाचनेमें निपुण पढ़ी-लिखी स्त्री जब चाहे तब कार्यमें लग सकती है। पहिले जमानेके आदमी चाहते थे कि खुद कमायें और बीबीको खिलायें। अबके मर्द चाहते हैं कि बीबी कमाये और वे उसकी कमाईपर गुजर करें।'

मास्टर ताराचंदका सारगर्भित व्यंग सुनकर पेशकार साहबका चेहरा उतर गया। लड़खड़ाती जबानसे वे कहने लगे—'आप बड़ी सख्त बात कह गये हैं!'

मास्टरने उत्तर दिया—'मैंने सख्त-मुलायम कुछ नहीं कहा है। मैंने तो वर्तमान समयके वातावरणका बयान किया है। लड़का तो खैर लड़का ही है; परंतु मुझे तो आपके विचारोंपर तरस आता है। आप अनुभवशील वृद्ध होकर भी ऐसे गंदे विचार रखते हैं? क्षमा करना। आप घरकी रानी और जीवन-सङ्गिनी नहीं चाहते हैं, आपको गृहलक्ष्मीकी आवश्यकता नहीं है, आपको जरूरत है एक ऐसी स्त्रीकी जो वक्त पड़नेपर गा-नाचकर रोटी चला सके।'

यह कहकर मास्टर ताराचंद अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ उठकर चले गये। रास्तेमें मास्टर ताराचंदने अपने मित्रसे कहा—'देखी आपने पेशकारकी असभ्यता?' लड़कीके पितासे पूछते हैं—'लड़कीको गाना-बजाना-नाचना सिखलाया या नहीं? और कुछ न पूछा। न तो यह पूछा कि गृहस्थीका क्या-क्या काम जानती है। भोजन बनाना आता

है या नहीं। सीना-पिरोना आता है या नहीं? उनको गृहलक्ष्मी नहीं चाहिये—सोसायटी गर्ल चाहिये।'

एक ठंडी साँस खींचकर मास्टर हीरालालने कहा—'हेडमास्टर साहब, हमारा हिंदू-समाज धीरे-धीरे अंग्रेजी-समाज बन जाना चाहता है। हम 'काले अंग्रेज' बनते जा रहे हैं और हिंदू-संस्कृतिको सत्यानाशमें मिलाते जा रहे हैं।'

'फिर भी कहा जाता है कि हम प्रगति कर रहे हैं, उन्नतिकी ओर जा रहे हैं। इनक़लाब ला रहे हैं, समाजको कल्याणके पहाड़पर चढ़ा रहे हैं।' हेडमास्टर ताराचंदने उत्तर दिया।

दूसरे रविवारको मास्टर ताराचंद और मास्टर हीरालाल एक दूसरा लड़का देखनेके लिये अलीगढ़ गये। लड़का एम्० ए० में पढ़ता था। लड़केका पिता मर चुका था। उसका चाचा श्यामलाल—तालोंके कारखानेका मालिक था। घरकी हैसियत अच्छी थी। अपना मकान था। नौकर-चाकर भी दौड़ रहे थे। श्यामलालने मास्टरसे पहला सवाल किया—

'लड़कीने कहाँतक शिक्षा पायी है?'

'हिंदी मिडिल पास किया है।'

'हिंदी मिडिल? अंग्रेजी नहीं पढ़ायी?'

'अंग्रेजी घरपर कुछ सीखी है। नाम-धाम पढ़ लेती है। तार और चिट्ठी भी मामूली तौरपर समझ लेती है।'

'तब तो आपने बहुत अंग्रेजी पढ़ा दी है।'

'काफी है। यदि आपको जरूरत पड़ी तो वह किसी दफ्तरमें ऐड्रेस वगैरह लिखनेकी नौकरी कर लेगी।'

अब तो श्यामलालजी चकरा गये। मास्टर ताराचंदको गौरसे देखकर बोले—'इसका क्या मतलब?'

मास्टर साहबने उत्तर दिया—'अंग्रेजी शिक्षाका उपयोग यही हो सकता है। यानी आवश्यकता पड़नेपर कहीं नौकरी करके रोटीका प्रबन्ध कर सके।'

इसपर वहाँ जो लोग बैठे थे, फरमायशी कहकहा लगाते हुए हँस पड़े। बाबू श्यामलालजी भी खूब हँसे। फिर बोले—'शिक्षाका आदर्श है सभ्यता सिखलाना, न कि नौकरी कराना।'

तब मास्टर ताराचंदने उत्तर दिया—'यह तो आज मुझे एक नयी बात बतायी है आपने! मुझे आजतक ज्ञात न था कि शिक्षाका लक्ष्य सभ्य बनना है। मैं तो यही समझता था कि रोटी कमानेके लिये ही पढ़ना-लिखना आवश्यक है।'

श्यामलालजी बोले—'यदि आपका ऐसा विचार था तो वह गलत था। मुझे आश्चर्य है कि आप हेडमास्टर होकर भी ऐसे विचार रखते हैं!'

'मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, बाबू साहब!' मास्टरने व्यंग किया। श्यामलाल कहने लगे—'बात यह है कि लड़का एम्० ए० में पढ़ रहा है। उसकी इच्छा है कि किसी अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कीसे ब्याह किया जाय। लड़की अधिक पढ़ी-लिखी न हो तो कम-से-कम मैट्रिक, एफ० ए० तक अवश्य पढ़ी होनी चाहिये।'

मुसकराकर मास्टर साहब कहने लगे—'चाहिये भी यही। लड़का हो अंग्रेजीका विद्वान् और लड़की हिंदी ही जानती हो तो बड़ी कठिनाई पड़ती है। पति अंग्रेजी बोलता है, पत्नी हिंदी बोलती है। न पतिकी बात पत्नी समझती है और न पत्नीकी बात पति समझता है। ऐसी दशामें निभाव होना कठिन है।'

'यह तो आप मजाक कर रहे हैं।' श्यामलालने कहा।

'अच्छा! यह मजाक है? मैंने तो सच समझकर कहा था।' मास्टर बोले।

तब मास्टर हीरालालने कहा—'वैसे लड़की खाना पकाना, सिलाई और गृहस्थीके कामोंमें होशियार है।'

श्यामलाल बोले—'खाना तो हमारा लड़का भी बहुत अच्छा पका लेता है। बैंगनका भरता तो ऐसा बनाता है कि कमाल कर देता है।'

मुसकराकर मास्टर ताराचंद कहने लगे—'ऐसी दशामें लड़कीको पाकशास्त्रकी शिक्षा देना बेकार हो गया। सिलाई-वाली मशीन भी वह चला ही लेता होगा? थोड़ा संतान-पालनकी शिक्षा भी उसे दिला देते तो सारा झगड़ा खतम हो जाता।'

'झगड़ा क्या खतम हो जाता?' अचकचाकर श्यामलालने पूछा।

'यही कि लड़की अंग्रेजी पढ़ी हो और घर-गृहस्थीके काम जानती हो या न जानती हो। बाकी काम तो आपका लड़का जानता ही है। खाना पकाना, सिलाई करना और संतान पालनमें वह कमाल हासिल ही कर चुकेगा। बीबी केवल गिट-पिट करनेको रह जायगी। यदि अवसर पड़ेगा तो कमाकर खिला भी सकेगी। पति घरका काम करेगा और पत्नी आफिस जायगी।'

मास्टर ताराचंदकी चुटकीपर फिर सब लोग हँस उठे।

दोनों हाथ मलकर मास्टर हीरालाल कहने लगे—'हमारे वर्तमान समाजकी बुद्धि तो देखिये। लोग हिंदी पढ़ी-लिखी लड़कीको, फिर चाहे वह कितनी अच्छी हिंदी क्यों न जानती हो, पढ़ी-लिखी ही नहीं समझते। घरेलू कामोंमें दक्ष होना कोई तालीम ही नहीं मानी जाती। मातृभाषामें चाहे वह लिखना-पढ़ना न जानती हो, परंतु अंग्रेजीमें होशियार हो। तभी वह शिक्षिता है। वह बैंगनका भरता बनाना न जानती हो, तब भी कोई हर्ज नहीं। उसे फटा कपड़ा सीना न आता हो, तब भी कोई त्रुटि नहीं। शिशु-पालनकी तमीज न हो, तब भी काम चल जायगा; परंतु यदि वह गिटपिट न करती हो, टेनिस न खेलती हो, सिनेमा न देखती हो, पतिके आवारा दोस्तोंसे लपककर हाथ मिलाना न जानती हो, तो काम नहीं चल सकता। स्त्री-शिक्षाके विषयमें लोगोंका दृष्टिकोण कैसा बदला है कि कमाल है।'

इसके बाद दोनों मास्टर उठकर अपने घर निराश होकर लौट गये।

× × × ×

मास्टर ताराचंदका लड़का कैलाशनाथ एम्० ए० पास करके एक कालेजमें प्रोफेसर हो गया था। रविवारका दिन था। मास्टर ताराचंद तो अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ कानपुर गये हुए थे अपनी लड़कीके लिये लड़का देखने। इधर तबतक एक साहब अपनी लड़कीके लिये लड़का तलाश करते हुए, कैलाशनाथके कमरेमें आ विराजे। यों बातचीत हुई—

'मास्टर ताराचंदजी कहाँ हैं?'

'वे तो कानपुर गये हुए हैं।'

'क्यों?'

'लड़कीके लिये वरकी तलाशमें।'

'और मैं अपनी लड़कीके लिये वरकी तलाशमें इधर आया हूँ। सुना था कि उनका इकलौता पुत्र कैलाशनाथ कुँवारा है। कैलाश बाबू कहाँ हैं?'

'मेरा ही नाम कैलाशनाथ है।'

'अच्छा! तो आप करते क्या हैं?'

'सनातन धर्म कालेजमें प्रोफेसर हूँ।'

'बड़ी खुशीकी बात है। मगर यह नौकरी उतनी अच्छी नहीं, जितनी दूसरी नौकरियाँ होती हैं। इसमें ऊपरकी आमदनी नहीं होती।'

'मुझे जो कुछ मिलता है, वह सब ऊपरसे ही भगवान्‌से ही मिलता है!'

बाबूजी खिलखिलाकर हँस उठे। कहने लगे—'यह तो ठीक है, भगवान्‌का दिया हुआ ही सब पाते हैं; परंतु बँधे पैसे बँधे हुए ही होते हैं। आजकलके जमानेमें बँधे पैसोंसे कैसे काम चल सकता है? बुरा न मानना, बँधे हुए पैसोंकी साहिबीसे तहसीलकी चपरासगीरीमें अधिक फायदा है।'

'मगर वह बेईमानीकी कमाई होती है।'

'ईमानकी कमाईवालोंका दीवाला निकल जाता है। आपने अपने पिताका रुपया पानीमें बहा दिया, आजकलकी मास्टरी और प्रोफेसरीमें क्या रक्खा है? पुलिस, कचहरी, जंगलातमें होते तो सारी जिंदगी मौजमें कटती। कुछ नहीं तो किसी रजवाड़ेमें ही घुस जाते। चार ही सालमें हवेली बनवा लेते। मेरे पड़ोसमें एक लड़का रहता है। केवल इन्ट्रेंस पास किया था। कुम्भके मेलेमें टिकट बेचनेपर उसकी नौकरी लग गयी थी। केवल एक महीने ही रहा था। तनख्वाहके अलावा आठ हजार कमा लाया है। रेलके अफसर उसपर बहुत खुश हैं। कहते थे कि प्रत्येक कुम्भपर तुम्हारी ड्यूटी लगायी जायगी। इसके तीन साल बाद अर्द्ध-कुम्भी पड़ रही है और छः साल बाद कुम्भ आयेगा। अब हिसाब लगा लो कि केवल टिकट बेचकर ही वह अपने जीवनमें लखपती हो जायगा या नहीं?'

'रिश्वत लेते उसे शरम नहीं आयी? लाखों मुसाफिर अपने घरसे दूर परदेशमें पड़े होते हैं। वहाँ पड़े-पड़े भूख-प्यास-बीमारी सहते रहते हैं। जब वे घरको भागते हैं, तब उनसे रिश्वत लेता होगा वह नर-पिशाच!'

'ऊपरकी आमदनीमें दोष नहीं होता। मान लो कि कोई आदमी रातको बिना बत्तीके साइकिलपर निकला, सिपाहीने पकड़ लिया, वह चालान करनेके बजाय दो रुपये लेकर छोड़ देता है। यदि चालान करता तो पाँच रुपया जुर्माना होता। ऊपरकी आमदनीकी बदौलत ही उसे तीन रुपयेकी बचत हो गयी। उधर सिपाहीका भी भला हो जाता है। उसे तनख्वाह ही क्या मिलती है!'

'परंतु बिना बत्तीवाला साइकिलसवार आगे चलकर किसीसे टकरा भी जा सकता है। किसी लड़केको चोट पहुँचा दी, किसी भले आदमीके कपड़े बिगाड़ दिये तो क्या कोई अच्छा नतीजा निकला ? उसका चालान होना ही मुनासिब था।'

'अभी आपका लड़कपन नहीं गया है—रिश्वत कौन नहीं लेता ? नजराना, डाली-भेंट और चंदा-रिश्वतके ही दूसरे नाम हैं। चापलूसी, सिफारिश भी तो रिश्वत ही है।'

'मैं तो ऊपरकी आमदनीसे नफरत रखता हूँ।'

'तब मैं सम्बन्ध भी नहीं कर सकता।'

'सम्बन्धके लिये आपको मजबूर कौन करता है ? जो रिश्वत लेता हो, ब्लैकमेल करता हो, ऊपरकी आमदनी रखता हो, उसीसे अपनी लड़कीका सम्बन्ध कीजिये। मना कौन करता है ? और मना करनेसे भला, आप मान भी सकते हैं ?'

और सचमुच वे चुपचाप चले गये। जब मास्टर ताराचंद आये, तब कैलाशनाथने उनको यह सारा हाल सुनाया। मास्टरने कहा—

'समाजमें आज विवाह भी अभिशाप बन रहा है।'

# पागलकी झोली

### [ मुर्देकी खोपड़ी बोली—'साधु सावधान' ]

( लेखक—श्रीमत् सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज )

पागल एक दिन गङ्गातटपर श्मशानमें बैठा राम-राम कर रहा था। श्मशान जनशून्य था। संध्या हो रही थी। इसी समय आवाज आयी—'साधु सावधान'। पागलने राम-राम करते हुए इधर-उधर देखा, कोई दिखायी नहीं दिया। केवल एक मुर्देकी खोपड़ी पड़ी थी। खोपड़ी अपनी उज्ज्वल दन्तपंक्तिको फैलाती हुई बोली 'साधु सावधान'।

*पागल*—राम-राम। मुर्देकी खोपड़ी बोल रही है!

*खोपड़ी*—तुम बोल सकते हो और मैं नहीं बोल सकती ?

*पागल*—मैं जीता हूँ, तुम तो मर गये हो—सीताराम।

*खोपड़ी*—तुम जी रहे हो, यह किसने कहा ? तुम भी तो मर गये हो, कालके मुखमें पड़े हो; काल प्रतिक्षण तुम्हारा ग्रास कर रहा है। तुम भी तो मुर्दोंमें ही शामिल हो, बन्धु!

*पागल*—राम-राम! 'साधु सावधान' यह तुमने क्यों कहा ?

*खोपड़ी*—साधु सजकर बगल बजाते हुए बीच रास्तेमें मजा कर रहे हो इसलिये।

*पागल*—बीच रास्तेमें ?

*खोपड़ी*—हाँ, बीच रास्तेमें। तुम्हें कहाँ जाना है, जानते हो ?

*पागल*—राम-राम, बताओ।

*खोपड़ी*—हिमालयकी भाँति जमा हुआ एक 'मैं'का राज्य है, वहाँ जाना है। जबतक वहाँ नहीं पहुँच जाते, तबतक रास्तेमें ही भटक रहे हो—जानते हो ?

*पागल*—राम-राम, वहाँ पहुँच गया—इसका कैसे पता लगेगा ?

*खोपड़ी*—जब दो चीजें कुछ भी नहीं रह जायँगी। गङ्गाजल और नालेका जल, फूलोंका हार और जूतोंकी माला, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान, जीवन और मृत्यु, शत्रु और मित्र—सब एक हो जायँगे। तुम जड-उन्मत्तकी भाँति समता धारण करके विचरोगे। जमे हुए 'एक' के साथ सदाके लिये मिल जाओगे।

*पागल*—वहाँ पहुँचनेके लिये ही तो राम-राम करता हुआ बगल बजाता फिरता हूँ, बन्धु!

*खोपड़ी*—पर जो लोग तुमको चारों ओरसे घेरकर ताण्डव मचाते हुए रास्ता रोके खड़े हैं, उन्हें पहचानते हो ?

*पागल*—राम-राम, तुम किनकी बात कह रहे हो ?

*खोपड़ी*—उन चेले-चाटियोंकी, जिनमें कोई कहता है—'आप महापुरुष महात्मा हैं, जगत्का परम कल्याण कर रहे हैं;' कोई साक्षात् भगवान् बतलाकर जय बोल रहे हैं; कोई गहने-कपड़े, रेशमी चद्दर देकर पूजा कर रहे हैं; कोई तरह-तरहकी विलास-सामग्री लाकर सामने रख रहे हैं; कोई गन्ध-पुष्प, धूप-दीप दान कर रहे हैं; कोई पैरोंतक लटकती हुई मालासे सजा रहे हैं; कोई चन्दन-चर्चित करनेके लिये व्याकुल हैं; कोई शरीरपर इत्र-फुलैल लगानेके लिये अत्यन्त व्यग्र हैं; कोई पूजाके लिये छायाचित्र उतारना चाहते हैं; कोई मठ-मन्दिर बनवाकर प्रचार करनेको उत्सुक हैं।

शिष्य गुरुसे मन्त्र ग्रहण करता था भगवत्साक्षात्कारके लिये; पर अब उसको त्यागकर कोई 'मेरे गुरु अवतार हैं'—यों ढोल बजाते हुए देश-देशान्तरमें प्रचार करते फिरते हैं, निरीह भोले लोगोंको धोखा देकर स्वयं 'साक्षात् विष्णु-पार्षद' बनकर उनसे पूजा कराते हैं। यह सब तुम्हारा प्रचार नहीं है, नाम बदलकर आत्मप्रचार करना है। 'मेरे गुरु अवतार हैं' यों कहकर साधारण भोले लोगोंको विस्मित, चकित और साधु-सज्जनोंके सामने तुमको उपहासास्पद बनाते हैं। आकाशकी भाँति अखण्ड असीम अनन्त तुम्हारे स्वरूपको वे एक सड़े पुराने ढाँचेमें अटकाकर रखनेके लिये व्याकुल हैं। वे बार-बार तुमको उस टूटे ढाँचेमें भरकर तुममें ढाँचेका अभिमान जगा देना चाहते हैं। कोई तो विष्णुका पार्षद बनकर गृहस्थोंके मनमें विश्वास पैदा करके निस्संकोच उनका सर्वनाश कर रहे हैं, तो कोई कितने छल-कौशलसे, कितने रूपोंमें केवल तुम्हारे परम स्वरूपको भुलाना चाहते हैं। आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, एकमात्र आत्मा ही है—इस ज्ञानको नष्ट करनेके लिये कोई-कोई तो कमर कसकर खड़े हो गये हैं और ढेर-के-ढेर रुपये बहा रहे हैं। कोई 'हमारे गुरु अवतार हैं' कहकर लोगोंको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं तो कोई 'भगवान्के पार्षद' सजकर अपनी विषयवासना चरितार्थ कर रहे हैं। इस प्रकार तुम्हारे देहात्मबोधको जगानेके लिये निरन्तर जो जी-जानसे लग रहे हैं—जानते हो, वे कौन हैं ?

*पागल*—तुम्हीं बतलाओ !

*खोपड़ी*—वे हैं देवताओंके द्वारा भेजे हुए विघ्न—

**कुयोगिनो ये विहितान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ॥**

( श्रीमद्भा० ११ । २८ । २९ )

'जो अधूरे योगी देवताओंद्वारा उपस्थित किये हुए स्वजनरूपी विघ्नोंसे मार्गच्युत हो जाते हैं।'

अतः बन्धु-बान्धव, भक्त, चेला-चाटी—जो मार्गमें रोड़े अटकाते हैं और देहात्मबोध जगानेके लिये सतत सचेष्ट रहते हैं, वे देवताओंके द्वारा प्रेरित विघ्न हैं। तुम देवताओंको अतिक्रम करके अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त करो—इसे देवता नहीं चाहते। इसीसे वे भक्त शिष्य सजकर आते हैं और तुम्हें इस पुराने ढाँचेमें अटकाये रखना चाहते हैं। मन्दिरके देवता नहीं, घटाकाश नहीं—तुम असीम अव्यक्त अनिर्वचनीय निरञ्जन निष्कल हो। एकमात्र तुम्हीं हो—इस बातको भुलाकर वे तुम्हें इस टूटे ढाँचेमें भर रखना चाहते हैं। इसीसे मैंने कहा—'साधु, सावधान।'

और ये जो स्त्रियाँ 'बाबा' 'बाबा' पुकारती हुई कितना प्यार, कितनी प्रीति, कितनी भक्ति दिखाती हैं—जानते हो, ये कौन हैं ?

*पागल*—बतलाओ।

*खोपड़ी*—ये 'देवमाया' हैं, तुम्हें भुलाना चाहती हैं। स्वयं शुकदेवने कहा है—अजितेन्द्रिय व्यक्ति देवमाया-रूपिणी नारीको देखकर उसपर लुब्ध हो जाता है और पतङ्गके अग्निमें पड़नेकी भाँति अन्धकारमय नरकमें जा गिरता है। साधुओंको स्त्रीसे दूर रहना चाहिये। जो

ऐसा नहीं कर सकता, उसकी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहती। स्वयं भगवान्ने कहा है—आत्मवान् पुरुषको स्त्री और स्त्री-सङ्गी पुरुषोंका सङ्ग दूरसे त्यागकर निरापद निर्जन स्थानमें बैठकर अनलसभावसे मेरा ध्यान करना चाहिये—

**स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।**

नारीके और नारीसङ्गी पुरुषके सङ्गसे जितना और जैसा दुःख प्राप्त होता है और संसारबन्धन होता है, उतना और वैसा दुःख किसी भी दूसरे संसर्गसे नहीं होता। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान!' इस विद्याको प्राप्त करनेमें कौन समर्थ होते हैं—जानते हो?

*पागल*—बतलाओ।

*खोपड़ी*—जो साँपके समान जनसङ्गसे भय करता है, मिष्टान्नको विषके समान समझता है, स्त्रियोंको राक्षसीके रूपमें देखता है, वही ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर सकता है। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान!'

*पागल*—'राम, राम, सीताराम—अच्छा, बन्धु! बताओ—मैं क्या करूँ?'

*खोपड़ी*—सबसे ओझल हो जाओ, तुम्हारा चिह्न भी कोई न देखने पाये। तुम जी रहे हो, यह भी किसीको पता न लगे। भागो, भागो।

*पागल*—राम-राम, हँसा दिया तुमने तो बन्धु! क्या तुम यह समझते हो कि मनुष्य अपनी इच्छासे कुछ कर सकता है! जो होना है, सब हो ही रहा है। कोई भी स्वाधीन नहीं है, बन्धु! मैं जानता हूँ मैं निराश्रय नहीं हूँ। मेरे एक रक्षक—चालक हैं, जो सदा-सर्वदा मेरी रक्षा करते हैं और मुझे चलाते हैं। राम, राम, सीताराम। बन्धु! जैसे लोगोंका एक दल महापुरुष अवतार कहकर हल्ला मचा रहा है, वैसे ही एक दूसरा दल भी है जो पाखण्डी, बदमाश, धर्मध्वजी और कपटी कहकर आनन्दका उपभोग करता है। यह जानती हो न?

*खोपड़ी*—हाँ जानती हूँ।

*पागल*—मैं दोनों ही दलोंके लोगोंको क्या समझता हूँ, जानती हो?

*खोपड़ी*—बतलाओ।

*पागल*—सबको अपना इष्ट-देवता मानकर मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ। माताओंको जगन्माता जानकर मन-ही-मन प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ। मैं लोकालयमें रहने या सर्वसङ्गका त्याग करके वनमें जानेके लिये स्वाधीन नहीं हूँ। जिन्होंने मुझे लोकालयमें रखा है, उनकी जिस दिन इच्छा होगी, उस दिन वे वनमें ले जायँगे। उन्होंने भक्तश्रेष्ठ उद्धवको यह अन्तिम उपदेश दिया था—

**अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।**
**मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥**

(श्रीमद्भा० ११। २९। १९)

'मन, वाणी, शरीरकी सभी वृत्तियोंसे समस्त प्राणियोंमें मेरी ही भावना करे—मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन मानता हूँ।'

इसीसे मन-ही-मन सबको 'सब तुम्हीं हो!' कहकर प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ और राम-राम करता हूँ।

जनसङ्गका त्याग करके वनमें जानेके लिये कह रहे हो, बन्धु? सौभरि मुनि सर्व-त्याग करके कठिन तपस्या करते थे; एक दिन जलमें मछलियोंको संसार करते देख लिया कि उनकी भी संसार करनेकी इच्छा हो गयी। राजा भरत धन-जन-राज्य-ऐश्वर्य सब छोड़कर वनमें रहते थे; एक हरिनमें ममता करके हरिन बन गये। वनमें भी कौवे, सियार, लोमड़ी, बिल्ली, मयूर, हरिन आदि हैं। केवल मनुष्यका सङ्ग ही नहीं, बन्धु! राम, राम, सीताराम! हरिन, मयूर, वृक्षोंका सङ्ग करके भी मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है राम-राम। जानते हो, बन्धु? जो अपने पैरोंपर खड़े होना चाहते हैं,

अपनेको बड़ा मानकर चलते हैं, उनको पद-पदपर विपत्तिका सामना करना पड़ता है और जो शरणागत दास होकर, यन्त्र होकर, स्वामीके—यन्त्रीके चलाये चलते हैं, उनकी वे निरन्तर रक्षा करते हैं।

शरणागत दास अपनेको महापुरुष, महात्मा या अवतार कभी नहीं मानता; पर लोग तो सदासे कहते ही आये हैं, आगे भी कहेंगे। मैं तो जैसे 'पाखण्डी' 'धर्मध्वजी', 'मान-बड़ाईका भूखा' इत्यादि सुनकर राम-राम करता हूँ, वैसे ही 'महात्मा' 'महापुरुष' 'भगवान्' सुनकर भी राम-राम करता हूँ। जानते हो—मैं तो अपनेको माँकी गोदमें पड़ा नंगा शरणागत शिशु समझता हूँ और उसीपर निर्भर हो रहा हूँ। मैं जानता हूँ—

> **खेलत बालक ब्याल सँग मेलइ पावक हाथ।**
> **तुलसी सिसु पितु मात सम राखत सिय रघुनाथ॥**

जो कुछ भी हो, बन्धु! तुमने मेरी शुभ कामना करके जो इतना सावधान कर दिया, इसके लिये मैं तुम्हारा साधुवाद तथा तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

इतना कहकर पागलने ज्यों ही दण्डवत् प्रणाम करना चाहा त्यों ही देखा कि वहाँ कोई मुर्देकी खोपड़ी नहीं है, उसके गुरुदेव ही खड़े-खड़े हँस रहे हैं। पागलने नयन-जलसे उनके चरणयुगलको धो दिया!

जय राम! सीताराम!!

---

# विष्णु और लक्ष्मीकी एकरूपता

( संत विनोबा )

कुछ लोग कहते हैं, भूदान-आन्दोलन केवल आर्थिक हैं, आध्यात्मिक नहीं। लोग समझते नहीं कि मन्दिरमें प्रसादके तौरपर मिठाई बाँटे जानेसे ही मन्दिर हलवाई-की दूकान नहीं बन जाता। मिठाई वहाँ धर्मका चिह्न-मात्र है। उसी तरह यह जमीन बाँटना, लेना आदि कोरा बँटवारा नहीं है। यह सब प्रेमसे हो रहा है। जमीनका बँटवारा तो छीनकर या कानूनसे भी हो सकता था। तब इसे आर्थिक आन्दोलनमात्र कहा जा सकता था, लेकिन यहाँ तो सब कुछ प्रेमसे ही होता है।

धर्मके साथ अर्थका होना भी क्या कोई पाप है? विष्णुके साथ लक्ष्मी, शिवके साथ शक्तिका होना क्या पाप है? धर्मके साथ अर्थके आ जानेसे ही वह आर्थिक-मात्र नहीं हो जाता। इस आन्दोलनका स्वाद है—करुणा, जो चखनेमें मीठा है और उसका रूप है अर्थशास्त्र। केवल रूप तो कोई अर्थ नहीं रखता। बगीचेके केलेकी मधुरता गोबरके नकली केलोंमें नहीं आती, यद्यपि उनका रूप केलेका ही रहता है। वैसे ही कानूनसे जमीन बाँटना या छीनना गोबरके केलेके समान ही है, और यहाँ तो प्रेमका भी बँटवारा है।

इस आन्दोलनमें विष्णु और लक्ष्मी, शिव और शक्ति, मिठास और सौन्दर्य साथ-साथ हैं। केवल ऊपरसे नहीं, गहराईमें जाकर देखना होगा।

( प्रेषक—दुर्गाप्रसाद )

---

> **त्वमम्बा सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता।**
> **त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्॥**

'भगवती लक्ष्मी! तुम सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हो, देवदेव श्रीहरि ही इसके पिता हैं। तुम्हारे और भगवान् विष्णुके द्वारा यह चराचर जगत् व्याप्त है।'

# कामके पत्र

( १ )

## दस पवित्र साधन

सप्रेम हरिस्मरण । तुम्हारा पत्र मिला । तुमने साधनके सम्बन्धमें पूछा सो बड़ी अच्छी बात है । नाम-जपमें तुम्हारा प्रेम है ही । कलियुगमें नामका आश्रय ही सबसे बड़ा साधन है । उसे तुम कर ही रहे हो । जीवनमें उतारनेके योग्य कुछ अति आवश्यक साधन लिख रहा हूँ—

१—प्रतिदिन एक लाख भगवन्नाम-जप ।

२—अधिक-से-अधिक मन्त्र-जप ।

३—भगवान्‌का अपने प्रति अत्यन्त अनुग्रह, सहज सौहार्द, असीम कृपा, परम स्नेह मानकर उनपर बार-बार दृढ़ विश्वास करते तथा बढ़ाते हुए, नित्य अति प्रसन्न रहते हुए, भगवान्‌के प्रति अपनेको—अपने सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, कामना-वासना, ममता-मोहसहित सब प्रकारसे अर्पण कर देना । अपनेको सर्वथा उनका ही बना देना; और इस समर्पणके भाव-को प्रतिदिन प्रातःकाल तथा रात्रिको सोते समय दृढ़ बनाना । बार-बार इसकी आवृत्ति करते हुए इसको अपने जीवनमें उतारना ।

४—घरवालोंके उपकार, उनके ममत्व, उनके सद्व्यवहारको ही याद करना और प्रतिदिन उनके लिये सद्भावना करते हुए भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना कि उनमें सबके प्रति सौहार्द, त्याग, भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेम उत्पन्न हों ।

५—सबमें भगवद्भाव करना ।

६—किसीका कभी अहित न सोचना, न करना, न किसीके दोष देखना ।

७—किसीकी निन्दा-चुगली न करना ।

८—क्रोधकी क्रिया न करना ।

९—नित्य किसी गरीबकी कुछ सेवा निरभिमान-भावसे करना ।

१०—नित्य तुलसी सींचना तथा भगवान्‌के चढ़ाया हुआ तुलसीपत्र खाना ।

इन दसों बातोंको जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करना । भगवत्कृपाके बलपर यह दृढ़ विश्वास करना कि ये बातें मेरे जीवनका सहज स्वभाव बन जायँगी । शेष भगवत्कृपा ।

( २ )

## बुराई न देखकर प्रेम करना चाहिये

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा, वह यथार्थ है; पर मैं इसके लिये क्या करूँ ? सत्य कहूँ तो—आप जरा भी अत्युक्ति न मानियेगा—मैं स्वयं इतनी दुर्बलताओंसे, इतने दोषोंसे भरा हूँ कि दूसरोंके दोषोंकी आलोचना करना तो दूरकी बात है, उनकी ओर देखनेका भी अधिकारी नहीं हूँ । जन्मसे अबतक असंख्य अपराध बने हैं, अब भी बन रहे हैं । ऊपरके साज और मन-की यथार्थ स्थितिमें कितना अन्तर है, इसे अन्तर्यामी ही जानते हैं । यह सब जानते हुए भी दोषोंसे मुक्त नहीं हुआ जाता । यह कितना बड़ा अपराध है । इतनेपर भी दयासागर अपनी दयासे, अपनी अनोखी कृपासे, अपने सहज सौहार्दसे कभी वञ्चित तो करते ही नहीं, अपनी कृपासुधाके समुद्रमें सदा डुबाये रखते हैं । इस घृणित नरक-कीटपर कितनी कृपा वे करते हैं, इसकी सीमा ही नहीं है । मैं आपसे क्या बताऊँ ? मेरी तो आपसे भी यही प्रार्थना है कि दूसरे क्या करते हैं, इस बातपर ध्यान मत दीजिये ।

तेरे भाएँ जो करौ भलौ बुरौ संसार ।
नारायन तू बैठि कै अपनौ भवन बुहार ॥

एक महात्मा लिखते हैं—'जितना हम सोचते हैं

कि उस पुरुषमें इतनी बुराई है, उतनी ही बुराई हम उसे देते हैं। जो जितना कमजोर होगा, उतना ही अधिक दूसरोंके विचारोंका उसपर प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार हम जितना दूसरोंको बुरा समझते हैं, उतना ही उनके प्रति बुराईके हम भागी होते हैं। उसी प्रकार जब हम किसी मनुष्यको 'अच्छा, सच्चा, ईमानदार समझते हैं तो उसके जीवनपर हम अपना बहुत ही अधिक प्रभाव डालते हैं। यदि हम उनसे प्यार करते हैं, जो हमारे सम्पर्कमें आते हैं, तो वे भी हमसे प्यार करने लगते हैं। यदि आप चाहते हैं कि संसार आपसे प्रेम करे तो आप पहले संसारके लोगोंसे प्रेम कीजिये।

'एक प्रकारसे चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम है। प्रेम जीवनकी कुंजी है। प्रेमका प्रभाव इतना अधिक होता है कि उससे संसार हिल उठता है। सबके साथ चौबीसों घंटे प्रेम करनेकी ही भावना कीजिये और देखिये—आपको सब ओरसे प्रेम-ही-प्रेम मिलेगा। यदि आप लोगोंसे घृणा-द्वेष करेंगे तो चारों ओरसे आपको घृणा-द्वेष ही प्राप्त होंगे और आप उनसे संतप्त तथा विक्षिप्त होने लगेंगे। बुराई करनेसे भयंकर विष उत्पन्न होता है। बुराई, घृणा, द्वेष-ईर्ष्या—तीरकी तरह लौटकर हमींको बेधती हैं और ऐसा घाव हृदयमें करती हैं कि जो प्रायः कभी अच्छा नहीं हो सकता।'

अतएव हमें चाहिये कि किसीकी बुराई न देखें, किसीको बुरा न समझें। हममें कितनी बुराइयाँ भरी हैं—यह जानते हुए भी भगवान् उनको कैसे सह रहे हैं! वे कभी हमसे न तो घृणा करते हैं न जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे ही वञ्चित रखते हैं। उन्हींकी भाँति हमें किसीसे घृणा न करके सबके साथ अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। हम जितना ही दूसरोंसे प्रेम करेंगे, उतना ही अधिक प्रेम उसके बदलेमें हमें प्राप्त होगा। शेष भगवत्कृपा।

( ३ )

## भगवान्‌की शरणमें ही जीवनकी सफलता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है—संसारमें किसी भी वस्तु, स्थिति या प्राणि-पदार्थमें शान्ति नहीं है। पर हम इन्हींसे शान्तिकी आशा रखते हैं; तब बताइये, शान्ति कैसे मिले। संसारके प्राणिपदार्थोंकी ममता, उनकी कामना और उनकी आसक्ति तो निरन्तर काम-क्रोधादिका ही आश्रय दिलायेंगी, जो हमारे लिये दुःखोंकी परम्परा उत्पन्न कर देगा। इन काम-क्रोधादिके परायण होकर, इनके वशमें होकर, इनका आज्ञाकारी गुलाम बनकर मनुष्य क्या-क्या नहीं करता; पर ये कभी उसको सन्मार्गपर आने ही नहीं देते। एक साधकने इनसे घबराकर भगवान् श्रीकृष्णसे शरणकी प्रार्थना करते हुए कहा है—

**कामादीनां कति न कतिधा पालितादुर्निदेशा-**
**स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।**
**उत्सृज्यैतानथ यदुपते! साम्प्रतं लब्धबुद्धि-**
**स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये॥**

'मैं कामादिके कितने बुरे-बुरे आदेश कितनी प्रकारसे पालन करता रहा; पर मेरे प्रति न तो उन कामादिको दया आयी और न अपनेको दया करनेमें असमर्थ जानकर उन्हें लाज ही आयी; वे अपनी चालसे बाज आये ही नहीं। अब हे यदुनाथ! मुझमें बुद्धि आ गयी है और मैं उनको छोड़कर तुम्हारे अभय चरणोंकी शरणमें आ गया हूँ। तुम मुझको अपने दासत्वमें नियुक्त कर लो।'

सभी अन्याश्रयोंको छोड़कर एकमात्र भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे ही सुख-शान्ति मिलेगी और उसीसे जीवन सफल होगा। शेष भगवत्कृपा।

# हिंदू-संस्कृतिका मातृवाद

( लेखक—श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री )

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

मातृभावनामें पूर्ण दैवीगुणोंको पाकर हिंदूने मुहुर्मुहुः माताकी महिमा पुराणोंमें गायी है । जिस वस्तुमें हिंदूको अधिकाधिक पूज्यभाव अपेक्षित है, जिसका प्रत्युपकार हिंदू कभी पूरा नहीं कर सकता तथा जिसके चरणोंमें वह अपनी अगाध श्रद्धा अर्पण करना चाहता है, उसे वह 'माता' शब्दसे विभूषित करता है । इस 'माता' शब्दमें हिंदूकी समस्त श्रद्धा, अटल विश्वास, पूरी पूज्यभावना और मानवोचित एवं दैवी—सम्पूर्ण गुण मानो कूट-कूटकर भरे हैं । 'माता ताभ्यो गरीयसी' आदि वाक्योंद्वारा माताको सर्वश्रेष्ठ माना है । माताको वेद और ब्रह्मसे भी बढ़कर माना है—

माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः ।

सम्पूर्ण तीर्थोंका निवास मातामें ही बताया गया है । केवल माताकी ही सेवासे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति कही गयी है । इस अनन्त गुणविभूषित साक्षात् ब्रह्मस्वरूप 'माता' शब्दका हिंदू-संस्कृतिमें किस-किसके लिये और क्यों प्रयोग किया गया है, संक्षेपमें आज इसी विषयपर विचार करना है ।

हिंदूकी पहली माता वह है, जो उसे जन्म देती है । अपार कष्ट सहन करके वह बालकको दस मास उदरमें धारण करती है; कहीं गर्भमें विकृति न हो जाय, अतः पथ्य पदार्थ खाती-पीती और बड़ी सावधानीसे रहती है, अपने ही रक्तादिसे गर्भको पुष्ट करती है और अन्तमें प्रसव-पीड़ा जैसी विकराल वेदनाका सामना करके शिशुको जन्म देती है—

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ।
प्रजायते सुतान् माता दुःखेन महता विभो ॥

स्वयं गीलेमें सोकर बालकको सूखेमें सुलाती है, अपनी सारी सद्भावनाएँ बालककी एकमात्र मुसकानपर न्यौछावर कर देती है; भले स्वयं रोगी हो जाय, परंतु सदा बालकके नीरोग रहनेके लिये कामना करती है; उसके समस्त सुख तथा प्राण मानो बालकमें ही केन्द्रित हो जाते हैं ।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

'पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, परंतु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती ।' वह अपनी छातीका दूध पिला-पिलाकर पुत्रकी पुष्टि करती है । यदि माँ जलपूर्ण पात्र लिये चली आ रही है और बालक रो रहा है तो पानीके पात्र जैसे-तैसे रखकर जबतक वह अपने बालकको छातीसे नहीं लगा लेती, तबतक उसके प्राण शान्ति नहीं पायेंगे—

मातस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥

इस प्रकार बालक जब डेढ़-दो वर्षका हो जाता है, तब माता उसे सर्टिफिकेट दे देती है, 'बेटा ! अब तुझे दूध नहीं पिलाऊँगी ।' 'क्यों माँ ! मुझे दूध क्यों नहीं पिलायेगी ? बिना दूधके तो मैं जीवित ही न रह सकूँगा ।' 'पुत्र ! अब तेरा छोटा भाई मेरे गर्भमें आ गया है, इसलिये अब तुझे दूध नहीं मिलेगा ।' बालक इन बातोंको क्या समझे, उसे तो दूध चाहिये—'माँ'......'माँ'......बालक सायंकालतक इसी प्रकार चिल्लाता रहा, परंतु फिर भी जन्मदात्री माँका दूध उसे न मिला और मिलता भी कहाँसे ?

इतनेमें संध्याके समय जंगलसे घास चरकर गाय लौटती है । उसने देखा कि बालकका फूल-सा मुखड़ा कुम्हलाया हुआ है । दूधके लिये 'माँ'......'माँ'......चिल्ला रहा है । उसका मातृत्व जाग उठा । स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली । तुरंत बालकके पास जाकर बोली—'वत्स ! रोओ मत, मैं हूँ तेरी माँ । मेरे दो स्तनोंका दूध तू पीना और दो-का मेरे बछड़ेको पिलाना । मेरे बछड़े बैल बनकर खेतमें अनाज पैदा करेंगे और मैं घरमें दूध-दही उत्पन्न करूँगी । मौजसे जीवन बिताना, बेटा ! दूध पीना, यदि दूध-ही-दूधसे कुछ अरुचि हो जाय तो दूधमें किंचित् खटाई डालकर दही जमा लेना । दही खाना । यदि दहीसे भी तृप्ति हो जाये तो मथ करके नवनीत और छाँछ बना लेना, घी खाना—

विना गोरसं को रसो भूपतिषु,
विना गोरसं को रसो भोजनेषु ।

'बिना दूध, दही और घीके भला, भोजनमें कौन आनन्द रखा है । और देख बेटा ! यदि तुझे कभी दुर्भाग्यवश विषधर सर्प काट खाय, तो मेरे ही घृतको पीना आरम्भ कर देना और जबतक वमन न हो जाय तबतक पीते जाना ।

जब वमन हो जाय, तब समझना कि सर्पदंशका विष निर्मूल हो गया। गोबर और मूत्र भी मेरा व्यर्थ मत फेंक देना। घर-द्वार लीपना, जिससे रोगोत्पादक कीटाणु नष्ट हो जायँ। और बचे तो खेतमें डाल देना, बेटा! दस दाने बोओगे और दो सौ दाने उत्पन्न होंगे। संसारमें गोबरसे अच्छी कोई खाद नहीं है। मेरे इस पञ्चगव्यकी महिमा अपार है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च।
गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत्॥

'मरनेके उपरान्त भी मुझे ऐसे ही मत फेंक देना। पहले तो मेरे चमड़ेके जूते बनवाकर अपने पैरोंकी काँटे और धूपसे रक्षा करना, फिर मेरे रक्त और हड्डियोंको खेतमें डाल देना। मुझमें एक पदार्थ और भी रहता है, जिसे गोरोचन कहते हैं। बेटा! उसे भी रखना, वह भी अनेक प्रकारके ऐश्वर्यको बढ़ानेवाला है। मैं तेरी माँ और तू मेरा पुत्र।' इस प्रकार हिंदूकी दूसरी माँ है गायमाता।

गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

हिंदू-संस्कृतिमें गायको रुद्र, वसु, आदित्य आदि सभीसे पूज्य माना गया है। वह केवल दूध देनेकी मशीन नहीं वरं साक्षात् भगवती है, दुर्गा है, माता है और कामधेनु है।

'मङ्गलायतनं हि दिव्याः सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा।'

परंतु खाना-पीना और मौज उड़ाना ही तो जीवन नहीं है? फिर मनुष्यका क्या कर्तव्य है? उसे कैसे जीना चाहिये? उसे व्यवहार कैसे करना चाहिये? उसके जन्मकी सार्थकता क्या है? आदि-आदि जो भी प्रश्न मानवके उत्कृष्ट मस्तिष्कमें उत्पन्न हुए, उन सबका समाधान करती है हिंदूकी तीसरी माँ—गीता माँ।

जीवन जाते देर नहीं लगती। वृद्धावस्था और रोगके कारण शरीर जर्जर हो गया। अब कुछ नहीं सुहाता। अन्न बंद, दूध बंद।

यह मेरी सम्पत्ति, ये मेरे महल, यह मेरी स्त्री और पुत्र इत्यादिके माया-मोहमें फँसे जब पापी प्राण नहीं निकलते, ऐसे प्राण-संकट-कालमें सावधान करती है गीता माँ—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

तू क्यों घबराता है, इस देहके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा कभी नहीं मरता। उसे न शस्त्र काट सकते हैं न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न वायु सुखा सकता है। तेरे कर्मोंके अनुसार फिर तुझे शरीर प्राप्त होगा—पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

अपनी भूलोंको याद करके अगले जन्ममें शुभ कर्म करनेकी प्रतिज्ञा कर, यह आत्मा (जीवात्मा) इस पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरको प्राप्त होता है। कुछ सान्त्वना बँधी और 'कर्मानुगो गच्छति जीव एकः' के सिद्धान्तानुसार जीव पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको छोड़कर अन्यत्र चला गया।

लाओ अब गङ्गाजल मुखमें डाल दो। क्यों? क्योंकि हिंदूने क्षण-क्षण अनुभव करके संसारके समस्त जलोंका स्वयं परीक्षण करके स्वर्गसे पधारी त्रिपथगा गङ्गामें डंकेकी चोट छाप लगा दी, कि इससे अच्छा जल संसारमें कहीं नहीं है। गङ्गाकी महिमा अनन्त है—

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥

चौथी माँ है—गङ्गा माँ।

अब इस मृत शरीरको कौन रखे। इसे घरमेंसे निकाल दो। यह अस्पृश्य और त्याज्य है। तब पाँचवीं माँ भारत माता कहती है—पुत्र! मेरी ही मिट्टीसे तुम्हारी काया बनी, मुझमें ही खेल-कूदकर तुम बड़े हुए और मैंने ही अपनी छाती फाड़-फाड़कर तुम्हें अन्न एवं जल दिया। आज तुम्हारे इस मृत शरीरको जब कहीं जगह नहीं है, तब आओ, वत्स! मैं तुम्हें अपनी गोदमें सदाके लिये छिपा लेती हूँ।

गङ्गास्नानं गवां सेवा गीताध्ययन मेव च।
सुखाय जननीसेवा मातृभूमेश्च वन्दनम्॥

आजके युगमें हिंदू-संस्कृतिके प्रतीकोंके प्रति अवहेलनाके भाव दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। इन सांस्कृतिक प्रतीकोंको मातृभावका दुग्धसिंचन करके पुनः पल्लवित, पुष्पित और गौरवान्वित करना ही प्रस्तुत लेखका अपना दृष्टिकोण है।

# भाव-जागरण

( लेखक—श्रीयोगराजजी थानी )

ग्रीष्म ऋतुके दोपहरके समय जब प्रचण्ड किरणों-वाला सूर्य आकाशमें स्थिर होकर पृथ्वीपर मानो भीषण आग उगल रहा था, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी-तक भी हाँफ रहे थे। वृक्षोंकी छाया भी सिमटकर फिरसे लंबी होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। दूर-दूरतक कोई आता-जाता दिखायी नहीं दे रहा था। वे सरोवर और नदियाँ जो अपने पानीकी अधिकतापर मान किया करती थीं, सूखकर पानीके लिये तरस रही थीं। वे ठंडी तेज हवा-के झोंके, जो वृक्षोंतकको हिलानेका अभिमान किया करते थे, एक पलके लिये भी अपनी झलक नहीं दिखा रहे थे। वे मनुष्य-जातिके पुरुष जो अपनेको बलशाली कहते थे और बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंको सह सकनेके लिये सदैव तत्पर रहते थे, बाहर आनेका साहस नहीं कर रहे थे।

इसी देशका एक राजकुमार अपने महलकी खिड़की-से बाहर गर्मीके वातावरणको देख रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि एक संन्यासीपर पड़ी, जो हाथमें 'ॐ'की पताका लिये, नंगे पाँव और नंगे सिर जलती हुई भूमिपर निश्चिन्तता-पूर्वक चला जा रहा था। राजकुमारको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु वह संन्यासी चला ही जा रहा था। भगवान् ही जानें उस संन्यासीमें जीवधारियोंकी भाँति ये वही पाँच तत्त्व थे या नहीं। राजकुमार बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी ओर देखता रहा। संन्यासीके मुखपर तेज था, लालिमा थी। राजकुमारको जिज्ञासा हुई, भावोंमें जागरण हुआ, विचारधारा बदली और जब संन्यासी ठीक महलके नीचेसे होकर गुजरा, तब राजकुमारने श्रद्धापूर्वक पुकारा—'महात्मन्! ठहरियेगा।'

संन्यासी रुक गया। इतनेमें राजकुमार भी जा पहुँचा और आश्चर्यान्वित होकर राजकुमारने पूछा—'महाराज! इस नगरीमें तो पशु-पक्षी भी इस समय अपनी माँदों या घोंसलोंमें पड़े व्याकुल हो रहे हैं, आप पताका हाथमें लिये कहाँ जा रहे हैं? क्यों जा रहे हैं?'

संन्यासीने उत्तर दिया—'कुमार! कदाचित् तुम नहीं जानते कि जब एक प्राणी इस संसारमें आता है, तब जन्मके समय वह खुद तो रोता है, पर उसके जन्मपर उसके आस-पासके लोग हँसते हैं। मनुष्यको अपना जीवन इस प्रकारसे व्यतीत करना चाहिये कि जब वह संसारसे विदा हो, उस समय और सब तो रो रहे हों परंतु वह स्वयं हँस रहा हो। इस तथ्य एवं सत्यको पूर्ण करनेके लिये प्रभु-भक्ति भी एक मार्ग है और इसीलिये मैं यह साधना और तप कर रहा हूँ ताकि मरनेके समय मुझे यह पश्चात्ताप न करना पड़े कि मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया और उस परम पिता परमात्माकी उपासना भी न कर सका।'

राजकुमारने फिर पूछा—'महात्मन्! क्या यह पृथ्वी आपको गरम नहीं लग रही है और आपके पैर नहीं जल रहे हैं? देखिये, सूर्य कितनी भयंकर आग बरसा रहा है!'

संन्यासीने उत्तर दिया—'यह केवल समझने और महसूस करनेकी बात है। जिस प्रकार एक आदमी बाजारमें किसी अन्य व्यक्तिसे गाली सुनकर लड़ मरनेके लिये भी तैयार हो जाता है, पर वही गाली यदि स्नेहसे उसे कोई अपना सम्बन्धी ही देता है तो वह उसकी परवातक नहीं करता। इसी प्रकार इस धरतीसे भी मेरा सम्बन्ध है और इसकी गरमी मुझे किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं देती।'

संन्यासीकी इन बातोंने राजकुमारको अपनी ओर खींच लिया। उसके भाव बदलते गये और वह संन्यासीके विचारों, भावों, आदर्शों, ध्येयों, उद्देश्यों और लक्ष्योंके प्रति आकर्षित होता गया। इतना आकर्षित हो गया कि उसने साधुके साथ जानेका आग्रह किया। संन्यासीने उत्तर दिया—'तुमने राजाके यहाँ जन्म लिया है, आरामसे रहो, नरम गलीचोंपर सोओ। मेरे साथ चलोगे तो तुम्हें इन सब चीजोंका परित्याग करना पड़ेगा; काँटों और पत्थरोंकी सेजको तुम सहन न कर सकोगे। हम जिस पत्थरको गलीचा समझकर उसपर रात-रात[illegible]र देते हैं, प्रातः उसीके नीचे हमें विषैले साँपोंके दर्शन होते हैं।'

परंतु राजकुमारकी आस्थाको और उसके भक्तिमें लीन होनेके विश्वासको संन्यासी अपने भयपूर्ण शब्दसे डिगा नहीं सके। कुमारका आग्रह और भी तीव्रतर हो गया।

पर संन्यासीको अब भी विश्वास नहीं था राजकुमार-पर। संन्यासी यही सोचता था, राजकुमार नवयुवक है, भावुक है। आज तो भक्तिकी भावनासे ओतप्रोत है, न जाने कल यह आजके सुमार्गको कुमार्ग समझ बैठे और आजकी भक्तिभावनाको यह भूल समझ बैठे। इसीलिये राजकुमारके दृढ़ विश्वासकी परीक्षा लेनेके लिये उसने एक प्रश्न किया इस आशा और विश्वासपर कि प्रश्न सुन लेनेके पश्चात् राजकुमार भक्तिकी धुनको छोड़ देगा। संन्यासीने कहा—'कुमार! तुम्हें भगवान्ने इतना धन-धान्य दिया है, नौकर-चाकर दिये हैं, अच्छे कुलमें पैदा किया है, राज-कुमार बनाया और कुछ ही वर्षोंमें वह तुम्हें राजा भी बना देगा; अतः तुम यहींपर रहो और राजतिलकके शुभ दिन-

की प्रतीक्षा करो । भगवान्‌के दिये धन-धान्यको, भगवान्‌द्वारा दिये गये ऐश्वर्यको त्यागकर, ठुकराकर यदि तुम वनमें चले जाओगे तो क्या यह उस भगवान्‌का अपमान न होगा, जिसकी तुम उपासना करनेकी इच्छा रखते हो ।'

यही प्रश्न था कि इसका उत्तर देना राजकुमारके लिये असम्भव होगा । जिसके लिये संन्यासीकी ऐसी कल्पना थी । पर कल्पना साकार नहीं हुई और राजकुमारने कहा—'महात्मन् ! एक व्यापारी व्यापार करता है और उसमें उसे पर्याप्त लाभ होता है; पर यदि वह उस लाभवाली रकमको घर बैठकर ही खा-पी लेता है, आरामके मोह और वासनामें पड़ जाता है और इस आशापर व्यापार छोड़ बैठता है कि जीवनके लिये पर्याप्त धन है तो वह बेसमझ और नादान व्यापारी है । सच्चा और वास्तविक व्यापारी तो वही है, जो अपने व्यापारमें आये हुए लाभके द्वारा फिर व्यापार करता है और करता ही जाता है । मैं भी एक व्यापारी हूँ । मैंने पीछे भी एक व्यापार किया था; भगवान्‌ने उस व्यापारको सही और उचित समझकर मुझे यह वरदान दिया कि मुझे एक असाधारण व्यक्ति बनाया और राजाके यहाँ पैदा किया । भगवान्‌ने मेरे पिछले कर्मोंको शुभ समझा था, अतएव अब मैं क्यों न और अच्छे कर्म करूँ और फिर प्रभुभक्तिका व्यापार करूँ, ताकि भगवान् मुझे समझदार व्यापारी समझकर और भी अधिक लाभ दें, जिससे मेरा अगला जन्म भी सुखी और वास्तविक मनुष्यका-सा जन्म हो जाय ।'

संन्यासीके पास इस तर्कका कोई उत्तर न था । वह मूक हो गया और कहने लगा—'ठीक ही तो है, देर तो केवल भावोंके जागनेकी है; यदि एक बार भी भाव जाग गये तो समझ लीजिये जीवन सफल हो गया । मनुष्य दुनियाके किसी भी मोहमें नहीं फँस सकता । दुनियाके सारे लालच यदि एकत्रित हो जायँ, तो भी उसे अपने अटल विश्वाससे विचलित नहीं कर सकते । भाव जागा तो समझिये मनुष्यने अपने उद्देश्य, अपने लक्ष्यको पा लिया ।' अब राजकुमारके भावोंका जागरण हो गया था, उसे अब प्रभु-भक्तिकी लगन लग चुकी थी ।

## प्यारेसे—मनकी बात

हो चाहे तुम सर्वदोषमय, दोषरहित, गुणमय, गुणहीन ।
निर्मल मन अति हो चाहे, हो चाहे मन अत्यन्त मलीन ॥
प्यार करो, चाहे ठुकराओ, आदर दो, चाहे दुत्कार ।
तुम ही मेरे एक प्राणधन, तुम ही मेरे प्राणाधार ॥
कोटिगुना कोई हो तुमसे बढ़कर सुखद, रूप-गुण-धाम ।
मैं तो नित्य तुम्हारा ही हूँ, नहीं किसीसे कुछ भी काम ॥
फूट जायँ वे पापिनि आँखें, बहरे हो जायें वे कान ।
देखें, सुनें, भूलकर भी जो अन्य किसीका रूप, बखान ॥
निन्दा करो पेट भर चाहे, मैं नित तुम्हें सराहूँगा ।
दारुण दुःख सदा दो तो भी, मैं तुम ही को चाहूँगा ॥
बदतर से बदतर हालतमें भी तुमको न उलाहूँगा ।
मरकर भी तुमको पाऊँगा, संतत प्रेम निबाहूँगा ॥
कभी नहीं उपजेगी मेरे मनमें अन्य किसीकी चाह ।
नरकोंकी, दुर्गतिकी कुछ भी मुझे नहीं होगी परवाह ॥
एक तुम्हारा ही बस, होगा मुझपर सदा पूर्ण अधिकार ।
एक तुम्हीं बस, नित्य रहोगे मेरे सब कुछ, सरबस-सार ॥

# 'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क

# भक्ति-अङ्क

## कृपालु विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील सुलेखक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकाशित करना निश्चय हुआ है। यद्यपि भक्ताङ्क और 'भक्त-चरिताङ्क' पहले निकल चुके हैं, उनमें भक्तोंके चरित्र पर्याप्त आ गये हैं, साथ ही 'कल्याण'में 'भक्ति'-विषयक साहित्य भी बहुत प्रकाशित हो चुका है, तथापि भक्तिके स्वरूपका विविध दृष्टियोंसे विवेचनपूर्वक भक्ति-सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला कोई स्वतन्त्र विशेषाङ्क अबतक नहीं प्रकाशित किया जा सका था। 'कल्याण' के भक्तहृदय पाठक-पाठिकाओंकी बहुत समयसे इसके लिये माँग थी। अतः 'भक्ति-अङ्क' के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रह करनेका कार्य आरम्भ किया जा रहा है। इसलिये 'कल्याण'के प्रेमी विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील आदरणीय सुलेखकों-सुलेखिकाओंसे प्रार्थना है कि वे अपना लेख आगामी एक मासके अंदर ही शीघ्र भेजनेकी कृपा करें।

लेख ऐसा होना चाहिये, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यसे युक्त हो। कागजके एक पीठपर काफी हासिया छोड़कर अच्छी भाषा तथा अच्छे अक्षरोंमें लिखा गया हो। किसी भी सम्प्रदाय या व्यक्तिपर या किसी अन्य सिद्धान्तपर जिसमें तनिक भी आक्षेप न हो, जो बहुत बड़ा न हो और सिद्धान्तका प्रतिपादक होनेके साथ ही रोचक भी हो।

लेख बहुत अधिक संख्यामें आ जानेपर सबके लेखों तथा कविताओंका छपना सम्भव नहीं होता। कई सज्जन उत्साहसे लेख भेज देते हैं; पर वे तथ्यहीन तथा अशुद्धियोंसे भरे होते हैं; ऐसे लेखोंका भी छपना सम्भव नहीं। एक विषयके बहुत-से लेख आ जानेपर सबका छपना सम्भव नहीं, विषयान्तर होनेपर भी छपना सम्भव नहीं और 'कल्याण'के परिमित पृष्ठ होनेके कारण स्थानाभावसे भी सब लेखोंका छपना सम्भव नहीं—इन सब बातोंपर भलीभाँति विचार करके लेखक महानुभाव कृपया तथ्यपूर्ण छोटे लेख भेजें और न छपनेपर हमारी परिस्थितिको समझकर हमें क्षमा करनेकी कृपा करें, यह करबद्ध प्रार्थना है।

लेखोंकी विषयसूची नीचे छपी है, इनमेंसे किसी विषयपर या भक्तिसम्बन्धी अन्य किसी भी विषयपर लेख लिख सकते हैं। लेख हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, अंगरेजी—इनमेंसे किसी भी भाषामें भेजा जा सकता है।

निवेदक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक

# 'भक्ति-अङ्क' की विषय-सूची


१–वेदोंमें भक्ति
२–दर्शनोंमें भक्ति
३–उपनिषदोंमें भक्ति
४–पुराणोंमें भक्ति
५–रामायणमें भक्ति
६–श्रीमद्भागवतमें भक्तिका विलक्षण रूप
७–महाभारतमें भक्ति
८–रामचरितमानसमें भक्ति
९–श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्ति
(क) द्वादश अध्यायोक्त भक्ति
(ख) चतुर्विध भक्ति
(ग) प्रपत्ति-भक्ति
(घ) सकाम-भक्ति
(ङ) देव-भक्ति
१०–तन्त्रशास्त्रमें भक्ति
११–निर्गुणभक्ति–उदाहरणसहित
१२–प्रेम-भक्ति—उदाहरणसहित
१३–परा-भक्ति—उदाहरणसहित
१४–आत्माराम [illegible]मुनियोंका चित्त खींचने[illegible] दिव्यभक्ति–उदाहरण-सहित
१५–ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति
१६–ज्ञान-कर्मादिसंस्पर्शशून्य भक्ति
१७–शरणभक्ति—उदाहरणसहित
१८–पुष्टि-भक्ति—उदाहरणसहित
१९–निर्भरा भक्ति—उदाहरणसहित
२०–फलरूपा भक्ति—उदाहरणसहित
२१–रागात्मिका, रागानुगा और वैधी भक्तिके भेद—उदाहरणसहित
२२–नवधा भक्तिके विभिन्न भेद—उदाहरणसहित
२३–भक्तिके विभिन्न भाव और प्रकार-भेद—उदाहरणसहित
२४–भक्ति-तत्त्व—उदाहरणसहित
२५–भक्ति-रस-तत्त्व–उदाहरणसहित
२६–भक्तिके पाँच प्रधान रसों और रतियों-का भेद—उदाहरणसहित (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर)
२७–भक्तिके विभिन्न रस-स्तर-उदाहरण-सहित (स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव)
२८–निष्काम भक्तिके भेद—उदाहरण-सहित
२९–सकाम भक्तिके भेद—उदाहरण-सहित
३०–भक्तिकी सुलभता और सरलता
३१–भक्तिकी दुर्लभता
३२–भक्ति-साधना
३३–भक्तिका माहात्म्य
३४–भक्ति और ज्ञान
३५–भक्ति और वैराग्य
३६–भक्ति और योग
३७–भक्ति और दैवी सम्पत्ति
३८–भक्ति और सेवा
३९–भक्ति और कर्तव्यनिष्ठा
४०–भक्तिमें सर्वधर्मत्याग
४१–भक्ति और निष्काम कर्म
४२–भक्ति और वर्णाश्रमधर्म
४३–भक्ति और राजनीति
४४–भक्ति और समाजसेवा
४५–भक्ति और सदाचार
४६–वैष्णव सदाचार
४७–परतत्त्वका स्वरूप
४८–ब्रह्मतत्त्वका स्वरूप
४९–सम्बन्धतत्त्वका स्वरूप
५०–सम्बन्धतत्त्वमें जीवतत्त्व
५१–सम्बन्धतत्त्वमें अवतारवाद
५२–सम्बन्धतत्त्वमें श्रीकृष्ण
५३–प्रयोजनतत्त्व
५४–अभिधेयतत्त्व
५५–भगवत्तत्त्व
५६–भक्तितत्त्व
५७–शक्तितत्त्व
५८–श्रीराधाभाव
५९–श्रीगोपीभाव
६०–सिद्धसखीदेह
६१–भगवान्‌के दिव्य सगुण साकार रूपका दिव्यत्व और सच्चिदानन्दत्व
६२–भगवान्‌का नित्यवर्धनशील दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य–उदाहरणसहित
६३–भगवान्‌के एक-एक अङ्ग-अवयव-की अनुपम सुन्दरता और मधुरता—उदाहरणसहित
६४–भगवान्‌के आत्मारामगणाकर्षी दिव्य गुण
६५–प्रेमास्पद भगवान् और प्रेमी भक्त
६६–स्वामी भगवान्, सेवक भक्त
६७–भगवान्‌की अहैतुकी दया और सर्वभूत-सौहार्द
६८–शरणागतवत्सल भगवान् और शरणागत भक्त
६९–निर्बलके बल भगवान्
७०–दीन और दीनबन्धु
७१–पतित और पतितपावन
७२–प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें मुक्तिकी नगण्यता
७३–भक्त और भुक्ति-मुक्ति
७४–भक्तका सर्वस्व-समर्पण या सर्व-बलिदान
७५–ममता भगवान्‌में और अहंता भगवान्‌के दासत्वमें
७६–भक्तोंमें सहज उदारता, सर्वभूत-हितैषिता, अमान, अक्रोध और निष्कामभावना–उदाहरणसहित
७७–भक्तोंकी मृत्युकालीन विलक्षण अभिलाषाएँ—उदाहरणसहित
७८–भक्तोंके विभिन्न स्वरूप—उदाहरण-सहित

७९–भक्तापराध
८०–भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन
८१–सेवा-माहात्म्य
८२–पूजाके विविध उपचार
८३–सेवापराध
८४–भक्तिमें भगवन्नामकी प्रधानता
८५–कलियुगका परम साधन भगवन्नाम
८६–भगवन्नामकी अपार महिमा
८७–नामापराध
८८–साधु और साधुसङ्गकी महत्ता—उदाहरणसहित
८९–सत्सङ्गका स्वरूप और फल—उदाहरणसहित
९०–मोक्षके साथ भी तुलना न किये जा सकनेवाले भगवत्प्रेमियोंके क्षणिक सङ्गकी विलक्षणता
९१–भक्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी परम आवश्यकता
९२–श्रीरामाष्टयामपूजा-पद्धति
९३–श्रीकृष्णाष्टयामपूजा-पद्धति
९४–श्रीसीतारामाष्टयामपूजा-पद्धति
९५–श्रीराधाकृष्णाष्टयामपूजा-पद्धति
९६–श्रीउमामहेश्वराष्टयामपूजा-पद्धति
९७–प्रार्थनाका महत्त्व
९८–प्रार्थनाका स्वरूप
९९–प्रार्थनासे संकटनाश—उदाहरणसहित
१००–प्रार्थनासे मनोभिलाषकी पूर्ति—उदाहरणसहित
१०१–आर्य सनातनधर्ममें भक्ति
१०२–बौद्धधर्ममें भक्ति
१०३–जैनधर्ममें भक्ति
१०४–सिखधर्ममें भक्ति
१०५–पारसीधर्ममें भक्ति
१०६–ईसाईधर्ममें भक्ति
१०७–इस्लामधर्ममें भक्ति
१०८–श्रीशंकराचार्य और भक्ति
१०९–श्रीरामानुजाचार्य और भक्ति
११०–श्रीनिम्बाकाचार्य और भक्ति
१११–श्रीमध्वाचार्य और भक्ति
११२–श्रीरामानन्दाचार्य और भक्ति
११३–श्रीवल्लभाचार्य और भक्ति
११४–श्रीचैतन्यमहाप्रभु और भक्ति
११५–निर्गुणी संत और भक्ति
११६–वृन्दावनके विभिन्न सम्प्रदायोंकी भक्ति
११७–अवधके विभिन्न सम्प्रदायोंकी भक्ति
११८–आळवार भक्तोंके भाव
११९–महाराष्ट्र भक्तोंके भाव
१२०–दाक्षिणात्य भक्तोंके भाव
१२१–बंगीय ( गौडीय ) भक्तोंके भाव
१२२–उत्तरप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२३–विहारप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२४–मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२५–पञ्चनदीय भक्तोंके भाव
१२६–उत्कल भक्तोंके भाव
१२७–असम भक्तोंके भाव
१२८–राजस्थानीय भक्तोंके भाव
१२९–पर्वतीय भक्तोंके भाव
१३०–सनकादिकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३१–नारदकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३२–वाल्मीकिकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३३–व्यासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३४–शुकदेवकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३५–देवताओंकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३६–असुरोंकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३७–प्रह्लादकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३८–ध्रुवकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३९–शबरीकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४०–भरतकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४१–मीराँकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४२–नरसीकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४३–सूरदासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४४–तुलसीदासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४५–एकनाथकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४६–भक्त कवि—उदाहरणसहित
१४७–नामप्रेमी भक्तोंके भाव
१४८–व्रजभक्तोंका महत्त्व
१४९–अवधके भक्तोंका महत्त्व
१५०–काशीके भक्तोंका महत्त्व
१५१–श्रीरामभक्तिके विविध रूप
१५२–श्रीकृष्णभक्तिके विविध रूप
१५३–श्रीविष्णुभक्तिके विविध रूप
१५४–श्रीशिवभक्तिके विविध रूप
१५५–श्रीशक्ति-भक्तिके विविध रूप
१५६–श्रीसूर्य-गणेशादिकी भक्तिके विविध रूप
१५७–महात्मा गांधी और भक्ति
१५८–लोकमान्य तिलक और भक्ति
१५९–रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भक्ति
१६०–[illegible]अरविन्द और भक्ति
१६१–श्रीरामकृष्ण परमहंस और भक्ति
१६२–श्रीविवेकानन्द और भक्ति
१६३–भक्ति और [illegible]
१६४–भक्तिके [illegible] और दुराचार
१६५–भक्तिके स[illegible]धान साधन
१६६–भक्तिके बाधक प्रधान अन्तराय, उनका स्वरूप और उनसे बचनेके साधन
१६७–भक्तिके प्रधान क्षेत्र
१६८–देशभक्तिका यथार्थ रूप और उसका ईश्वरभक्तिसे सम्बन्ध
१६९–बंगालके तरुण मरणोन्मादी क्रान्तिकारियोंकी भक्ति
१७०– भक्ति और भूदान-यज्ञ
१७१–भक्तिके प्रधान ग्रन्थ—नारद-पाञ्चरात्र, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र आदि